पढ़ें और सीखें योजना

राजेन्द्र सिंह वत्स

विभागीय सहयोग

हीरालाल बाछोतिया

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

अगस्त 1994
श्रावण 1916

PD 15T SC

प्रकाशन सहयोग

सी.एन.राव, *अध्यक्ष*, प्रकाशन विभाग

प्रभाकर द्विवेदी *मुख्य संपादक*
पूरन मल *सम्पादक*
शशि चड्ढा *सम्पादन सहायक*

यू. प्रभाकर राव *मुख्य उत्पादन अधिकारी*
डी. साई प्रसाद *उत्पादन अधिकारी*
विकास ब. मेश्राम *सहायक उत्पादन अधिकारी*
राजेश पिप्पल *उत्पादन सहायक*

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन सी ई आर टी कैम्पस	सी डब्ल्यू सी कैम्पस	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी डब्ल्यू सी. कैम्पस
श्री अरविंद मार्ग	चितलापक्कम, क्रोमपेट	डाकघर नवजीवन	32, बी टी रोड, सुखचर
नई दिल्ली 110016	मद्रास 600064	अहमदाबाद 380014	24 परगना 743179

आवरण : अमित श्रीवास्तव

रु. 13.50

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा शगुन कम्पोजर्स, 92-बी, गली नं. 4, कृष्णा नगर, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली 110029 द्वारा लेजर टाइपसैट होकर न्यू ऐज प्रिंटिंग प्रेस, 5-ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली 110055 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

विद्यालयी शिक्षा के सभी स्तरों के लिए अच्छे शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की दिशा में हमारी परिषद् पिछले तीस वर्षों से कार्य कर रही है। हमारे कार्य का प्रभाव भारत के सभी राज्यों और संघशासित प्रदेशों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा है और इस पर परिषद् के कार्यकर्ता संतोष का अनुभव कर सकते हैं।

किंतु हमने देखा है कि अच्छे पाठ्यक्रम और अच्छी पाठ्यपुस्तकों के बावजूद हमारे विद्यार्थियों की रुचि स्वतः पढ़ने की ओर अधिक नहीं बढ़ती। इसका एक मुख्य कारण अवश्य ही हमारी दूषित परीक्षा-प्रणाली है जिसमें पाठ्यपुस्तकों में दिए गए ज्ञान की परीक्षा ली जाती है। इस कारण बहुत ही कम विद्यालयों में कोर्स के बाहर की पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। लेकिन अतिरिक्त-पठन में रुचि न होने का एक बड़ा कारण यह भी है कि विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के लिए कम मूल्य की अच्छी पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध भी नहीं हैं। यद्यपि पिछले वर्षों में इस कमी को पूरा करने के लिए कुछ काम प्रारंभ हुआ है पर वह तो बहुत ही नाकाफी है।

इस दृष्टि से परिषद् ने बच्चों की पुस्तकों के रूप में लेखन की दिशा में एक महत्वाकांक्षी योजना प्रारंभ की है। इसके अंतर्गत, *पढ़ें और सीखें* शीर्षक से एक पुस्तकमाला तैयार की जा रही है जिसमें विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के लिए सरल भाषा और रोचक शैली में निम्नलिखित विषयों पर बड़ी संख्या में पुस्तकें तैयार

की जाएँगी।

(क) शिशुओं के लिए पुस्तकें
(ख) कथा-साहित्य
(ग) जीवनियाँ
(घ) देश-विदेश परिचय
(ङ) सांस्कृतिक विषय
(च) वैज्ञानिक विषय
(छ) सामाजिक विज्ञान के विषय

इन पुस्तकों के निर्माण में हम प्रसिद्ध लेखकों, अनुभवी अध्यापकों और योग्य कलाकारों का सहयोग ले रहे हैं। प्रत्येक पुस्तक के प्रारूप पर भाषा, शैली और विषय-विवेचन की दृष्टि से सामूहिक विचार करके उसे अंतिम रूप दिया जाता है।

परिषद् इस माला की पुस्तकों को लागत मूल्य पर ही प्रकाशित कर रही है ताकि ये देश के हर कोने में पहुँच सकें। भविष्य में इन पुस्तकों को अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराने की भी योजना है।

हम आशा करते हैं कि शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के क्षेत्र में किए गए कार्य की भाँति ही परिषद् की इस योजना का भी व्यापक स्वागत होगा।

प्रस्तुत पुस्तक *भारत में चीनी यात्री* के लेखन के लिए डा. राजेन्द्र सिंह वत्स ने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया जिसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। जिन-जिन विद्वानों, अध्यापकों और कलाकारों से इस पुस्तक को अंतिम रूप देने में हमें सहयोग मिला है उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिंदी में *पढ़ें और सीखें* पुस्तकमाला की यह योजना प्रोफेसर अर्जुन देव के मार्गदर्शन में चल रही है। उनके सहयोगियों में डा. रामजन्म शर्मा, डा. सुरेश

पांडेय, डा. हीरालाल बाछोतिया और डा. अनिरुद्ध राय सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। मैं अपने सभी सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद और बधाई देता हूँ।

इस माला की पुस्तकों पर बच्चों, अध्यापकों, और बच्चों के माता-पिता की प्रतिक्रिया का हम स्वागत करेंगे ताकि इन पुस्तकों को और भी अधिक उपयोगी बनाने में हमें सहयोग मिल सके।

अशोक कुमार शर्मा

निदेशक

नई दिल्ली — राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

लेखक की ओर से

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले भारत में जन्मे बौद्ध धर्म का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि वह भारत की सीमाओं को पार कर एशिया के अन्य देशों में भी फैल गया। हिमालय के उत्तर में स्थित चीन भी इससे नहीं बच सका। आरंभ में कई भारतीय विद्वानों ने चीन जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसके बाद बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को सही ढंग से समझने के लिए अनेक चीनी जिज्ञासु बौद्ध भिक्षु भारत आए। उनमें सबसे प्रमुख थे—फा हियान, श्वेन त्साङ और इत्सिङ। वे ईसा की चौथी से सातवीं शताब्दी के बीच भारत आए। वे तीनों ही बुद्ध के परम भक्त थे। बुद्ध उनके लिए भगवान थे। उनका सहारा लेकर उन्होंने चीन और भारत के बीच हज़ारों मील की कठिन यात्रा पूरी की। उन्होंने मीलों लंबे वीरान रेगिस्तान, बर्फीले पहाड़, दुर्गम घाटियाँ और गहरे समुद्र आधुनिक यातायात की सुविधाएँ न होने पर भी किस तरह सफलतापूर्वक पार किए—इस विषय का एक रोचक वर्णन पाठक इस पुस्तक में पढ़ेंगे।

सौभाग्य से तीनों यात्रियों ने अपनी-अपनी यात्राओं के विस्तृत संस्मरण लिखे। वे आज भी सुरक्षित हैं। यह पुस्तक उन्ही संस्मरणों पर आधारित है। वे संस्मरण चौथी से सातवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण साधन हैं। उनके अध्ययन से उस समय के बौद्ध धर्म की स्थिति, धार्मिक सह-अस्तित्व, दान और परोपकार की परंपरा, अतिथि-सत्कार, उच्चकोटि की शैक्षिक व्यवस्था, विद्वानों का आदर, साहित्यिक उपलब्धि, बहुमंज़िला भवनों का निर्माण, धातु विज्ञान, खगोल विद्या, चिकित्सा विज्ञान, चित्रकारी, पच्चीकारी, मूर्तिकला, खनिज विज्ञान एवं संपदा, आर्थिक समृद्धि, राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था आदि पक्षों की एक सुंदर तस्वीर हमारे सामने उभरकर आती है।

हमारे पूर्वजों ने हमारी संस्कृति को इतना अधिक विकसित और आकर्षक बनाया था कि वह एशिया के दूरस्थ देशों में भी पनप गई थी। विदेशियों के लिए भारत-यात्रा गौरव की बात थी। कैसे और कहाँ तक? इसका विवेचन इस पुस्तक का एक प्रमुख उद्देश्य है। मुझे आशा है कि इसे पढ़नेवाले पाठकों को न केवल उस समय के साहसी और जुझारू यात्रियों के रोमांचक अनुभवों का आनंद मिलेगा बल्कि उनके मन में अपने यशस्वी अतीत के प्रति आदर और गर्व की भावना भी जगेगी। उस समय जबकि विश्व के अधिकांश लोग जंगली जीवन जीते थे भारतीय संस्कृति विकसित अवस्था में थी।

मुझे खुशी है कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर अनिल विद्यालंकार, वर्तमान अध्यक्ष प्रोफेसर अर्जुनदेव और उनके सहयोगियों मुख्यतः डा. हीरालाल बाछोतिया ने मुझे इस पुस्तक को लिखने तथा भारत के बच्चों के समक्ष चीनी यात्रियों की ऐतिहासिक यात्राओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का अवसर दिया।

इस पुस्तक की रचना में मुझे नई दिल्ली स्थित कई संस्थाओं एवं व्यक्तियों से बहुमूल्य सहायता मिली है। केंद्रीय पुरातत्व पुस्तकालय के अधिकारियों ने फा हियान, श्वेन त्साङ और इत्सिङ के यात्रा-वृतांतों को पढ़ने की स्वीकृति दी और उनके सहायकों ने आवश्यक पुस्तकें मुझे सहर्ष उपलब्ध कराई। नेहरू स्मारक पुस्तकालय एवं संग्रहालय के सौजन्य से इन यात्राओं से संबंधित कुछ ग्रंथ मुझे पढ़ने को मिले। मोतीलाल नेहरु कालेज के पुस्तकालयाध्यक्ष डा. दर्शनलाल सचदेव और उनके सहायकों ने कुछ आवश्यक ग्रंथ मुझे पढ़ने को दिए। राष्ट्रीय संग्रहालय के पुस्तकालय से मुझे भारत के बौद्ध स्थलों के बारे में संदर्शिकाएं पढ़ने को मिलीं। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के फोटो एल्बम विभाग के सदस्यों विशेष रूप से सर्वश्री शोभन चटर्जी, आई.एम. टिक्कू, तेजा सिंह और राजवीर सिंह ने इस

पुस्तक में प्रकाशित बौद्ध स्थलों के चित्र ढूँढने तथा उनकी प्रतियाँ बनवाने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। चीनी दूतावास के सांस्कृतिक विभाग ने सफेद घोड़ेवाले मंदिर, ताएन था एवं रेशम मार्ग के चित्र प्राप्त करने में सराहनीय सहायता की है। देश के कई नगरों में आयोजित कार्यगोष्ठियों के कई विद्वान प्रतिभागियों और घर पर मेरे परिवार के स्वजनों ने पांडुलिपि को सुना और पढ़ा। उन्होंने कई रचनात्मक सुझाव दिए जिनसे मैंने काफी लाभ उठाया है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के प्रकाशन विभाग के अधिकारियों विशेष रूप से मुख्य संपादक श्री प्रभाकर द्विवेदी और संपादक श्री पूरनमल ने बड़ी रुचि से इस पुस्तक का संपादन एवं प्रकाशन किया है। उक्त सभी संस्थाओं एवं व्यक्तियों की सहायता के लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। मैं अपनी पत्नी रेखा वत्स के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि वे पग-पग पर मेरी प्रेरणा का स्रोत रही हैं और इस रचना में कई जगह उन्होंने उपयुक्त शब्द चुनकर दिए हैं।

जे-58, साकेत
नई दिल्ली

राजेन्द्र सिंह वत्स

गांधी जी का जन्तर

तुम्हे एक जन्तर देता हू । जब भी तुम्हे सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

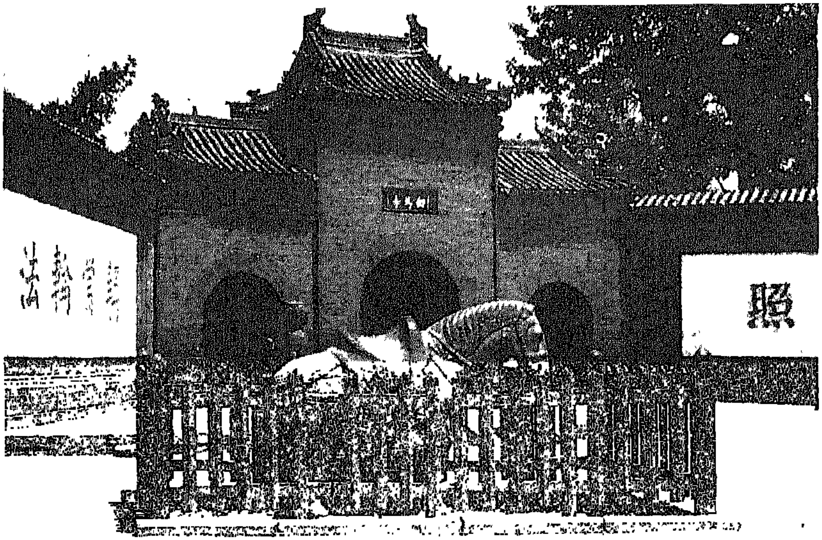
जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा । क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगो को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे है और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है ।

भारत में चीनी यात्री

चीन हमारा पड़ोसी देश है। यह भारत के उत्तर में स्थित है। इन दोनों देशों के बीच हिमालय पर्वत की विशाल शृंखलाएँ पश्चिम से पूर्व तक फैली हुई हैं। प्राचीन काल में उन्हें पार करना बहुत ही कठिन कार्य था। फिर भी कुछ साहसी लोग भारत से चीन और चीन से भारत आते-जाते रहे। ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व भारतीय व्यापारी आसाम के रास्ते से चीन के दक्षिण-पश्चिमी प्रांतों में भारत में बनी वस्तुएँ बेचने के लिए ले जाते थे।

सन् 67 ई. में दो बौद्ध संन्यासी कश्यप मातंग और धर्मरक्ष भारत से चीन गए। उन्होंने वहाँ के राजदरबार और जनता को बौद्ध धर्म का संदेश दिया। इससे वे लोग बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित होने लगे। कुछ चीनियों ने बौद्ध धर्म अपना लिया। बाद में कई और भारतीय बौद्ध भिक्षु चीन पहुँचे। उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। जिज्ञासु चीनियों को उन्होंने बौद्ध बनाया। भारतीय बौद्ध संन्यासी हुई ली ने सन् 326 में हंगजाउ में लिंगिङ बौद्ध मंदिर बनवाया। आजकल उस मंदिर में बुद्ध की लगभग पच्चीस मीटर ऊंची लकड़ी की चमकदार सुंदर प्रतिमा रखी हुई है। यह चीन में बुद्ध की सबसे ऊँची प्रतिमा है।



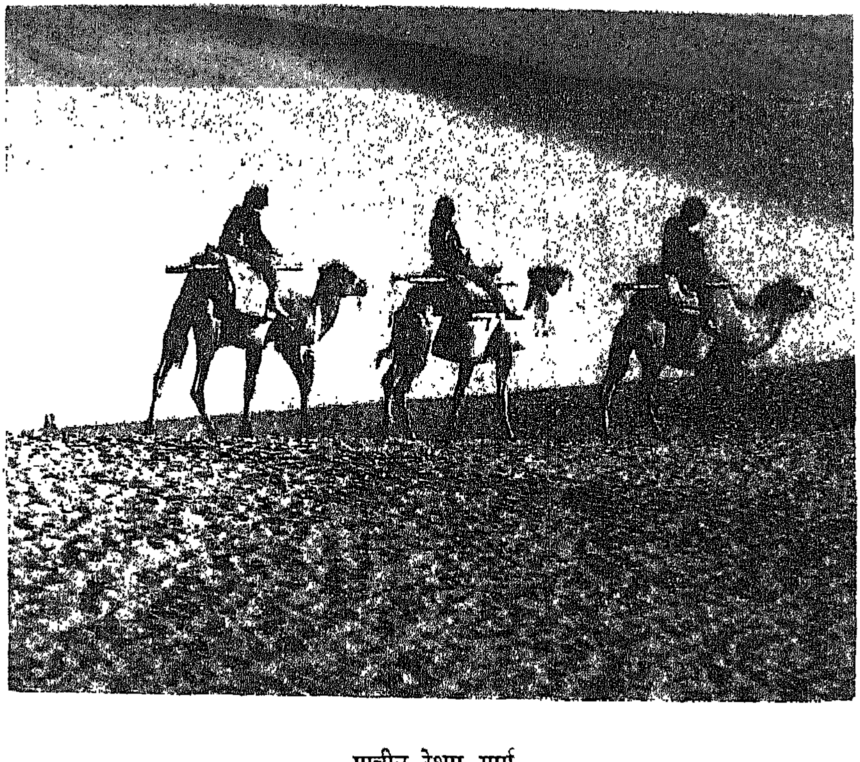
चीन के लोयाङ नगर में स्थित सफेद घोड़े वाला मंदिर जहाँ कश्यप मातंग एवं अन्य भारतीय बौद्ध भिक्षुओं की समाधियाँ हैं।

पाँचवी शताब्दी में कुछ भारतीय विद्वानों ने भी चीन की यात्रा की। उनमें प्रमुख थे—कुमारजीव और परमार्थ। कुमारजीव 401 से 412 ई. तक चीन में रहे। उन्होंने वहाँ 106 भारतीय ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। परमार्थ समुद्री मार्ग से चीन पहुँचे थे। वह उज्जैन के निवासी थे। उन्होंने सत्तर ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध धर्म पनपता गया त्यों-त्यों वहाँ के बौद्ध भिक्षुओं की बौद्ध धर्म के मौलिक और सही सिद्धांतों के बारे में जिज्ञासा बढ़ने लगी। चीन में गए भारतीय भिक्षु एवं विद्वान उनकी जिज्ञासा को शांत नहीं कर सके। धीमे-धीमे चीन के अनेक भागों में बौद्ध विहार बन गए। लेकिन उनके संचालन के सही नियमों का चीनियों को ज्ञान नहीं था। अतः उनके मन में यह भावना पैदा हुई कि वे स्वयं भारत आएँ, यहाँ के बौद्ध स्थलों को अपनी आँखों से देखें तथा भारतीय विद्वानों की सहायता से मौलिक बौद्ध ग्रंथों को पढ़ें और उनके गूढ़ अर्थों

को समझें। वे यहाँ आकर बौद्ध धर्म के नियमों को ठीक से समझना चाहते थे और उनसे संबंधित ग्रंथों को अपने साथ ले जाना चाहते थे।

कुछ विद्वानों का कहना है कि ईसा की तीसरी और आठवीं शताब्दी के बीच लगभग एक सौ उनहत्तर यात्रियों ने चीन से भारत के लिए प्रस्थान किया। उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध थे—फा हियान, श्वेन त्साङ तथा इत्सिङ।



प्राचीन रेशम मार्ग

उन दिनों चीन और भारत के बीच यात्रा करना कोई सरल काम नहीं था। मार्ग लंबा था। आधुनिक यात्रा के साधन भी उपलब्ध नहीं थे। कई स्थानों पर यात्रियों को बंजर मरुभूमि से गुजरना पड़ता था। मीलों न तो कहीं घास नज़र आती थी, न कोई पशु और न कोई चिड़िया। सूर्य की भीषण तपिश से सब कुछ झुलस जाता था। मरुस्थल में तेज़ हवा चलती थी। उससे उड़नेवाली रेत बने हुए रास्ते को प्रायः ढक लेती थी। यात्रियों को रास्ता ढूँढना कठिन हो जाता था। रेतीली हवाओं के कारण उनकी आँखें और नाक बंद होने लगती थी। वे अपने मार्ग से भटक जाते थे। कहीं-कहीं मरे हुए आदमियों, घोड़ों और ऊँटों की हड्डियों से उन्हें अनुमान लगाना पड़ता था कि अभी कोई कारवाँ उसी रास्ते से गुज़रा होगा और शायद वही रास्ता था जिससे वे भारत पहुँच सकते थे। रास्ते में कहीं-कहीं बर्फीले पहाड़ तथा ठिठुराने वाली ठंडक थी। किसी-किसी जगह यात्रियों को गहरी खाइयाँ रस्सी या लकड़ी के झूलते हुए पुलों से पार करनी पड़ती थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में कुछ साहसी तथा दृढ़ प्रतिज्ञ यात्री ही यात्रा करने में सफल हो पाते थे।

भारत में आनेवाले चीनी यात्री किसी एक मार्ग से नहीं आए। कुछ मध्य एशिया के भूमार्ग या प्राचीन रेशम मार्ग से भारत आए। कुछ आसाम-वर्मा मार्ग से आए। कुछ तिब्बत की ओर से आए। अन्य यात्री विशेष रूप से व्यापारी समुद्री मार्ग से आते थे। विद्वान भी कभी-कभी इस मार्ग का प्रयोग करते थे। वे दक्षिणी समुद्रों को पार करके ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक, पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर जिले में रूपनारायण और हुगली नदियों के संगम से 12 मील दूर पर स्थित) बंदरगाह पर आते थे और वहाँ से भारत में प्रवेश करते थे। ताम्रलिप्ति उस समय का समृद्ध बंदरगाह तथा बौद्ध शिक्षा का प्रसिद्ध केंद्र था। समुद्री यात्रा की अपनी ही जोखिमें थीं। फाहियान मध्य एशियाई मार्ग से भारत आया था। परंतु वापस वह समुद्री मार्ग से सिंघल (आधुनिक श्रीलंका) तथा जावा होकर गया था।

फा हियान

फा हियान पहला चीनी बौद्ध भिक्षु था जो भारत आया। मध्य चीन से भारत तक अपनी यात्रा उसने पैदल ही की। जिस समय वह यहाँ आया उस समय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (लगभग 375-418 ई.) का राज्य था। चीन में उसका जीवन-काल दो राजवंशों–सीनवंश (317-419 ई.) तथा सुङ वंश (420-478 ई.) से जुड़ा हुआ था।

फा हियान के भारत आगमन से पहले मौर्य सम्राट अशोक (लगभग 273-232 ई. पू.) ने भारत और भारत के बाहर बौद्ध धर्म का प्रसार करवाया था। उसके बाद कुषाण नरेश कनिष्क ने मध्य एशिया से लेकर मथुरा तक अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया। उसने स्वयं बौद्ध बनकर अपने साम्राज्य में बौद्ध धर्म का प्रसार किया। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म भारत और भारत की सीमा के बाहर अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, सिंघल आदि अनेक देशों में फैल गया था। अपनी यात्रा में फा हियान ने बौद्ध धर्म के इस विकसित रूप को देखा था।

फा हियान के आरंभिक जीवन के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि उसका उपनाम कुङ था। उसका जन्म वूयाङ में जो आधुनिक चीन के शासी प्रदेश के पिङ-याङ विभाग में स्थित है, हुआ था। उसके तीन बड़े

भाई थे। बचपन में ही उनकी मृत्यु हो गई थीं। अतः फा हियान के माता-पिता ने उसे एक बौद्ध मठ की सेवा में लगा दिया था। उन्होंने उसे श्रमण अर्थात् बौद्ध भिक्षु बनवा दिया। परंतु उसे परिवार में ही रखा क्योंकि उस समय उसकी आयु बहुत कम थी। एक बार वह काफी बीमार पड़ गया। अतः उसके पिता ने उसे एक बौद्ध विहार में भर्ती करा दिया। वहाँ वह कुछ समय में ही ठीक हो गया। उसके बाद उसने घर वापस लौटने से इंकार कर दिया। वह केवल दस वर्ष का था कि उसके पिता की मृत्यु हो गई। उस दुखद समाचार से भी वह विचलित नहीं हुआ। घर में उसकी विधवा माँ अकेली पड़ गई। उनकी असहाय दशा को देखकर फा हियान के चाचा ने उसे भिक्षु का जीवन छोड़कर घर लौटने का आग्रह किया। किंतु वह उसके लिए तैयार नहीं हुआ। कुछ समय बाद उसकी माँ का भी निधन हो गया। उसके अंतिम संस्कार में सम्मिलित होने के लिए वह अपने घर गया। लेकिन ज्यों ही संस्कार समाप्त हुआ वह अपने विहार में वापस चला गया। माँ के निधन के साथ ही वह सांसारिक ममता से मुक्त हो गया। विहार में रहकर वह पढ़ाई करता रहा और पूरी तरह से एक संन्यासी का जीवन जीने लगा।

एक बार फा हियान अपने कुछ साथियों के साथ धान काट रहा था। अचानक कुछ भूखे चोरों ने उन्हें घेर लिया और जबरदस्ती धान छीनने लगे। फा हियान के साथी तो डरकर भाग गए, परंतु फा हियान वहीं डटा रहा। उसने उन चोरों से कहा कि यदि वे चाहे तो धान ले जाएँ। लेकिन एक बात निश्चित है कि अपने पूर्व जन्म के दुष्कर्मों के कारण इस जन्म में उनकी यह दुर्दशा हुई। अब यदि वह डाका डालेंगे तो आगे के जन्मों में उन्हें अधिक दरिद्रता और दुख झेलना पड़ेगा। यह कहकर फा हियान अपने विहार की ओर चल पड़ा। चोरों पर उसकी बात का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे धान छोड़कर चले गए। यह देखकर सैकड़ों भिक्षुओं ने फा हियान का अभिनंदन किया और उसके शांत व्यवहार और साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

फा हियान बुद्ध-भक्त था। बौद्ध धर्म के प्रति उसकी रुचि दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। आरंभिक दीक्षा प्राप्त करने के बाद उसने बौद्ध संघ के समूचे दायित्वों को संभाल लिया। उस समय उसकी उम्र बीस वर्ष थी। चीन में बौद्ध विनय की दुर्दशा देखकर उसे बहुत दुःख होता था। उसे लगा कि वहाँ रहकर वह सही बौद्ध नियमों एवं सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः पच्चीस वर्ष की युवावस्था में उसने भारत आकर मौलिक ग्रंथों की खोज करने का संकल्प किया। वह **विनय पिटक** की पूरी प्रतियों का संग्रह करना चाहता था क्योंकि उन ग्रंथों में बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धांत और नियम दिए हुए थे।

फा हियान और उसके कुछ मित्रों ने 399 ई. में ही चंगन (आधुनिक शियन) से भारत की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में चंगीह के निकट पाँच अन्य भिक्षुओं से उसकी भेंट हुई। वे सब इकट्ठे होकर तन-हुआङ तक आए। तन-हुआङ चीन की विशाल दीवार का एक छोर था, जहाँ सेना सीमा की रक्षा करती थी। वहाँ से फा हियान और उसके साथी दो दलों में बंट गए। दोनों ने अलग-अलग भारत की ओर यात्रा आरंभ की।

तन-हुआङ के राज्यपाल ली हाओ ने फा हियान की आवभगत की और उसको गोबी रेगिस्तान पार करने के लिए आवश्यक सहायता भी दी। गोबी रेगिस्तान की भयावह परिस्थितियों का वर्णन करते हुए फा हियान ने लिखा है : कि उसमें अनेक दुष्ट आत्माएँ रहती थीं और गर्म हवाएँ चलती थीं जो किसी को नहीं छोड़ती थीं। न ऊपर आकाश में कोई चिड़िया दिखाई पड़ती थी और न नीचे धरती पर कोई पशु। मार्ग का पता लगाने के लिए चारों ओर दृष्टि डालने पर भी कुछ दिखाई नहीं देता था सिवाय मरे हुए मनुष्यों की हड्डियों के। केवल उन हड्डियों से मार्ग का अनुमान लगाना पड़ता था।

फा हियान ने मध्य एशिया में जिन राज्यों की यात्रा की उनमें उसने देखा कि

जहाँ भारतीय संस्कृति प्रचलित थी। लोप-नोर के दक्षिण में शन-शन प्रदेश में उस समय हीनयान संप्रदाय के चार हज़ार भिक्षु रहते थे। वे सभी भिक्षु और साधारण लोग भारतीय धर्म का ही अनुसरण करते थे सुविधा के लिए उसमें कुछ परिवर्तन कर लिए थे। फा हियान आगे लिखता है कि "इस स्थान से पश्चिम की ओर यात्रा करने पर जो देश मिलते हैं वे भी इसी तरह के हैं। वे तातारी उपभाषाएं बोलते हैं जिससे उनकी विविधता झलकती है। लेकिन वे सभी लोग (भिक्षु और अन्य लोग), जिन्होंने अपना घर परिवार छोड़ दिया है और श्रमण अथवा श्रमणेर बन गए हैं, भारतीय ग्रंथों और भारत में बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन करते हैं।"

शन-शन से उत्तर-पश्चिम की ओर पंद्रह दिन यात्रा करने के बाद फा हियान का दल करा शहर पहुँचा। दल के सभी सदस्य लगभग दो महीनों तक वहीं रुके। हीनयान संप्रदाय (जो सामाजिक और सांसारिक बंधनों को तोड़कर व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करने की शिक्षा देता था) के चार हज़ार से अधिक भिक्षु उस समय वहाँ रहते थे। फा हियान ने लिखा है कि "वहाँ के लोगों में विनम्रता की कमी थी; वे अपने पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्य का उचित निर्वाह नहीं करते थे। अजनबी लोगों के प्रति उनका व्यवहार ठीक नहीं था।"

करा शहर से एक महीने पाँच दिन यात्रा करने के बाद फा हियान खोतान (आधुनिक चीन का सिंकियाङ प्रांत) पहुँचा। रास्ते में उसे ऐसी नदियों को पार करना पड़ा जिनका प्रवाह बहुत ही तेज़ था। उसे अनेक प्रकार की कठिनाइयों से जूझना पड़ा। खोतान एक समृद्ध और सुखी राष्ट्र था। विद्वानों का मत है कि खोतान नगर मौर्य सम्राट अशोक के एक पुत्र ने बसाया था। वहाँ के राजकुमारों के नाम भारतीय थे। वे लोग प्राकृत तथा संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते थे। खोतान में कई हज़ार महायानी भिक्षु निवास करते थे। वे बुद्ध को मुक्तिदाता भगवान के रूप में पूजते थे और सार्वजनिक हित एवं सेवा पर बल देते थे। वहाँ के अतिथि और भिक्षु यात्रियों

का हृदय से सत्कार करते थे; उन्हें अपने घरों में सादर ठहराते थे। खोतान के राजा ने फा हियान और उसके साथियों को गोमती विहार में बड़े आराम से ठहराया था। यह विहार महायानी भिक्षुओं का था। वहाँ के अद्वितीय अनुशासन की चर्चा करते हुए फा हियान ने लिखा है कि "एक घंटी की आवाज़ पर तीन हज़ार भिक्षु भोजन के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। जब वे विहार के भोजनालय में प्रवेश करते हैं तो उस समय उनका व्यवहार गंभीर और शिष्टतापूर्ण होता है। वे नियमित क्रम से बैठ जाते हैं। सब मौन रहते हैं और अपने बर्तनों तक को भी नहीं खनकने देते। अधिक भोजन परोसवाने के लिए वे परोसने वालों को आवाज़ देकर नहीं बुलाते बल्कि अपने हाथों से केवल संकेत कर देते हैं।"

फा हियान के कुछ साथी खोतान से काशगर की ओर चले गए। किंतु वह और उसके कुछ साथी खोतान में तीन महीने और रुके रहे। उनके रुकने का उद्देश्य मूर्तियों का जुलूस देखना था। उस जुलूस में (हीनयानियों को छोड़कर) चौदह विहारों के भिक्षु भाग लेते थे। उनमें गोमती विहार के भिक्षु सबसे आगे रहते थे। नगर की गलियों की खूब सफाई की जाती थी। जगह-जगह मन को लुभाने वाली सजावट होती थी। नगर-द्वार को विशेषरूप से सजाया जाता था। उसी द्वार के ऊपर राजा, रानी और राजघराने के अन्य सदस्यों के बैठने के लिए सुंदर प्रबंध किया जाता था। उनके ऊपर छाया के लिए अनेक प्रकार के अलंकरणों से सुसज्जित छतरियाँ बनाई जाती थी। नगर से तीन-चार ली (एक 'ली' एक मील के लगभग एक-तिहाई के बराबर) की दूरी पर चार पहियों का एक रथ तैयार किया जाता था। उसकी ऊंचाई तीस फीट होती थी। उसको बड़े जतन से सजाया जाता था। उसकी सजावट में काफी कीमती वस्तुओं का प्रयोग किया जाता था। सुंदर खंभों और छतरियों पर कसीदाकारी की जाती थी। बुद्ध की प्रतिमा उस रथ के बीचों-बीच विराजमान होती थी। उसके साथ कुछ बोधिसत्वों और देवताओं की भी प्रतिमाएँ रखी जाती थी। उन सभी प्रतिमाओं पर

सोने और चाँदी की सुंदर पच्चीकारी की जाती थी। नगर-द्वार से सौ कदम आगे जाकर राजा पुष्प और सुगंध से रथ का स्वागत करता था। उस समय वह राजमुकुट उतार देता था और नए वस्त्र धारण कर लेता था। धरती तक अपना सिर झुकाकर वह उन भव्यमूर्तियों का अभिनंदन करता था। जैसे ही रथ नगर-द्वार में प्रवेश करता था वहाँ विराजमान रानी और अन्य महिलाएँ उस पर पुष्प वर्षा करती थीं। जुलूस में भिन्न-भिन्न प्रकार के कई रथ होते थे और प्रत्येक विहार का रथोत्सव अलग-अलग दिन मनाया जाता था।

खोतान नगर के पश्चिम में सात-आठ ली की दूरी पर एक नए विहार का निर्माण किया गया था। उसके बनने में अस्सी वर्ष लगे थे। वह तीन राजाओं के शासनकाल में बनकर तैयार हुआ था। उसकी ऊंचाई ढ़ाई सौ फुट थी। इस विहार के बौद्ध कक्ष में उत्तम कोटि की नक्काशी और सुंदर पच्चीकारी की गई थी। उसकी कड़ियाँ, स्तंभ और खिड़कियाँ सोने से मढ़ी थीं; उन पर बेशकीमती रत्न जुड़े हुए थे। फलतः बहुत ही सुहावना लगता था वह कक्ष। भिक्षुओं के कक्ष अलग से बने हुए थे। वे भी इतने सुंदर ढंग से सजाए गए थे कि उनका वर्णन करने के लिए फा हियान के पास शब्दों की कमी पड़ गई।

खोतान से चलकर पच्चीस दिन की यात्रा के बाद फा हियान कर्घलिक पहुँचा। वहाँ का राजा भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उस देश में उस समय एक हज़ार से भी अधिक भिक्षु थे; उनमें से अधिकांश महायानी थे।

कर्घलिक से आगे चलकर फा हियान ताश-कुरघान पहुँचा। वहाँ उसने कुछ दिन विश्राम किया। आगे पच्चीस दिन चलकर वह काशगर पहुँचा। काशगर के राजा ने पंच परिषद् बुलाई हुई थी। फा हियान ने उसे देखा। यह परिषद् प्रति पाँचवें वर्ष बुलाई जाती थी। भारत में सम्राट अशोक, हर्षवर्धन शिलादित्य और ध्रुवसेन द्वितीय ने भी परिषदों का आयोजन किया। सातवीं शताब्दी की हर्षवर्धन द्वारा प्रयाग में बुलाई

गई पंच परिषदें तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परंतु काशगर की सभा उतनी अधिक व्यापक नहीं थी। फिर भी वहाँ के हिसाब से उसका आयोजन बड़े उत्साह और धूम-धाम से किया जाता था। राजा और पुजारियों के बैठने के लिए भव्य पंडाल बनाए जाते थे। रेशम के सुंदर आसन बनाए जाते थे। उन पर सोने और चांदी के तारों से कमल के फूल काढ़े जाते थे। राजा हीरे-जवाहरात और अन्य बेशकीमती वस्तुएँ भिक्षुओं को दान में देता था। लेकिन उसके तुरंत बाद में राजा के अधिकारी धन देकर उन वस्तुओं को उनसे वापस ले लेते थे।

काशगर में फा हियान ने देखा कि वहाँ एक हज़ार से अधिक हीनयानी बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। वहाँ भगवान बुद्ध के कुछ अवशेष भी उपलब्ध थे। उनका एक पीकदान था। वह पत्थर का बना हुआ था। उसका रंग उनके भिक्षा-पात्र के रंग के समान था। उनका एक दांत भी था। उसके ऊपर वहाँ के निवासियों ने एक स्तूप बना दिया था।

काशगर बोलोर-तघ पर्वत श्रेणी के बीचों-बीच स्थित है। इसके आगे के प्रदेशों में फा हियान के अनुसार बांस, अनार और गन्ने को छोड़कर अन्य सारे पौधे, वृक्ष और फल चीन से भिन्न थे।

काशगर से फा हियान पश्चिम की ओर उत्तर भारत की दिशा में चला। एक महीने की कठिन यात्रा के बाद उसने बोलोर-तघ श्रेणी सफलतापूर्वक पार कर ली। ये पर्वत जाड़े और गर्मी के मौसम में समानरूप से बर्फ से ढके रहते थे। वहाँ जहरीले ड्रेगन भी रहते थे। फा हियान ने लिखा है कि यदि उन्हें छेड़ दिया जाए तो वे जहरीली हवाएँ, वर्षा, बर्फ, बालू और पत्थर उगलते थे। यदि इन खतरों में लोग फँस जाएँ जो दस हज़ार में से एक भी बचकर नहीं निकल पाता। उस जगह के लोग 'बर्फीले पहाड़ों के मानव' कहलाते थे।

बोलोर-तघ श्रेणी को पार कर फा हियान ओर उसके साथी उत्तर भारत में

पहुँच गए। वहाँ दरेल नामक एक देश था। उस देश में अनेक हीनयानी भिक्षु रहते थे। फा हियान को पता लगा कि वहाँ पहले एक लोहन रहता था। उसके पास दैविक शक्ति थी। उसके आदेश और प्रोत्साहन से एक कुशल कलाकार ने बोधिसत्व मैत्रेय की अस्सी फुट ऊँची प्रतिमा बनाई; उस प्रतिमा के मुड़े हुए पैरों की लम्बाई आठ फीट थी। व्रत के दिन वह सदैव तेज प्रकाश के साथ चमचमाने लगती थी। निकटवर्ती देशों के राजा उस पर ढेर सारा चढ़ावा चढ़ाते थे। यह प्रतिमा भगवान बुद्ध के निर्वाण के लगभग तीन सौ वर्ष बाद बनवाई गई थी।

आगे की दक्षिण-पश्चिमी दिशा में पंद्रह दिन की यात्रा में फा हियान ने अनेक कठिनाइयों का सामना किया। उस हजार फीट ऊँचे पहाड़ के किनारे-किनारे टेढ़ी-मेढ़ी डरावनी पगडंडी पर चलकर वह एक ऐसे नुक्कड़ पर पहुँचा जहाँ न तो कुछ ठीक से दिखाई पड़ता था और न ही कोई कदम रखने की जगह। उस नुक्कड़ से दूर नीचे सिंधु नदी थी। सिंधु नदी तक पहुँचने और उसे पार करने में फा हियान को कितने साहस और संकल्प से एक-एक कदम आगे बढ़ाना पड़ा होगा और कितनी परेशानी उसने झेली होगी इसका अनुमान उसके वर्णन से लगाया जा सकता है। उसने लिखा है : कि पुराने जमाने में लोगों ने पहाड़ी से नीचे उतरने के लिए पत्थर काट-काटकर एक रास्ता बनाया था। जहाँ रास्ता नहीं बन सका वहाँ पहाड़ी के साथ-साथ निसेनियाँ रख दी थीं। इस पहाड़ी रास्ते में सात सौ सीढ़ियाँ थीं। उन्हें पार कर फा हियान सिंधु नदी के तट पर पहुँचा। उस तट से नदी के दूसरे तट के बीच की दूरी लगभग ८० कदम थी। फा हियान ने उसे हिलती हुई रस्सियों के पुल से पार किया।

नदी पार करने के बाद फा हियान ने भारत के उद्यान (आधुनिक स्वात) देश में प्रवेश किया। यह राज्य सिंधु नदी के पश्चिम में था। वहाँ हीनयान संप्रदाय के पाँच सौ बौद्ध-विहार थे। अचानक आए हुए साधुओं और भिक्षुओं का उद्यान के

निवासी तीन दिनों तक पूरा सत्कार करते थे। उसके बाद उन्हें स्वयं अपना प्रबंध करना पड़ता था। फा हियान के समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि भगवान बुद्ध वहाँ गए थे और लौटते समय अपना एक पद-चिह्न छोड़ गए थे। दर्शक अपनी श्रद्धा के अनुकूल उस पद-चिह्न की लंबाई या छोटाई का दर्शन करते थे। उद्यान में बौद्ध धर्म काफी समृद्ध अवस्था में था।

उद्यान से पांच दिन चलने के बाद फा हियान गांधार पहुँचा। गांधार पर अशोक का पुत्र धर्मविवर्धन राज करता था। गांधार में फा हियान ने एक विहार देखा। उस पर सोने और चाँदी का काम था। गांधार के निवासी उस विहार की पूजा करते थे। उनकी मान्यता थी कि वह विहार उस स्थान पर बना था जहाँ प्राचीनकाल में भगवान बुद्ध ने अपने एक साथी जीव के लिए अपनी एक आंख दान में दे दी थी।

गांधार से सात दिन की यात्रा करने के बाद फा हियान तक्षशिला पहुँचा। तक्षशिला का चीनी भाषा में अर्थ 'सिर काटना' होता है। कहते हैं कि भगवान बुद्ध ने, जब वे बोधिसत्व थे,. अपने साथी जीव के लिए अपना सिर काट कर दे दिया था। दो दिन पूर्व की ओर चलकर फा हियान एक ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ बोधिसत्व ने अपनी देह एक भूखे चीते की भूख शांत करने के लिए दे दी थी। उक्त दोनों ही स्थानों पर सुंदर स्तूप बने हुए थे। आस-पास के देशों के राजा, मंत्री जनसाधारण वहाँ जाकर बड़ी-बड़ी भेंटें चढ़ाते थे, पुष्प अर्पित करते थे और दीप जलाते थे।

गांधार से दक्षिण की ओर चलकर सात दिन के बाद फा हियान पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) पहुँचा। कनिष्क ने वहाँ चार सौ फुट से भी ऊँचा और बेशकीमती रत्नों एवं हीरों आदि से जड़ा हुआ एक स्तूप बनवाया था। यह संसार का सबसे बड़ा स्तूप था। पुरुषपुर में बुद्ध का एक भिक्षा-पात्र भी था। वह पात्र बड़ा चमत्कारपूर्ण था। उसमें से अनेक रंग झलकते थे। उसकी चद्दर की मोटाई एक बटा पाँच इंच थी। उसमें पारदर्शी आभा थी तथा चकाचौंध करने वाली

चमक थी। गरीबों द्वारा चढ़ाए गए थोड़े से फूलों से वह भर जाता था। परंतु यदि अमीर लोग उसे हज़ारों गुलदस्तों से भी भरने की कोशिश करते तो वह न भरता। श्रद्धालुओं ने उस पात्र के स्थान पर एक स्तूप और एक विहार बनवा दिया था।

पुरुषपुर से फा हियान के तीन साथी स्वदेश वापस चले गए। उसका एक साथी अचानक बीमार पड़ गया। उसकी वहीं मृत्यु हो गई। फा हियान के साथियों में अब केवल ताओ-चैंग रह गया। उन दोनों ने साथ-साथ आगे की यात्रा की।

पुरुषपुर से पश्चिम दिशा में सोलह योजन चलने के बाद फा हियान नगरहार की सीमा पर पहुँचा। उस देश में एक स्तूप था जिसमें बुद्ध की खोपड़ी का एक टुकड़ा रखा हुआ था। उस पर सोने का पता चढ़ा हुआ था। वहाँ के राजा ने उसकी सुरक्षा का कड़ा प्रबन्ध किया था। समाज के विभिन्न वर्गों के लोग बड़ी श्रद्धा से उसकी पूजा करते थे।

नगरहार के दक्षिण में आधे योजन की दूरी पर फा हियान ने एक गुफा देखी, जिसके अंदर एक शिला पर भगवान बुद्ध अपनी छाया छोड़ गए थे। पड़ोसी देशों के राजाओं ने कुशल चित्रकारों को उसका रेखा-चित्र बनाने के लिए भेजा था। परंतु कोई भी उसका ऐसा चित्र नहीं बना सका।

नगरहार के निकट अन्य स्थानों का भी फा हियान ने भ्रमण किया और वहाँ का वर्णन लिखा। आगे बर्फ से ढका हुआ सफेदकोह पर्वत था। उसे पार करने में फा हियान को काफी कठिनाई हुई। ठंड के मारे वह काँपने लगा। अंत में वह अफगानिस्तान जा पहुँचा। उस समय अफगानिस्तान में लगभग तीन हज़ार महायानी और हीनयानी बौद्ध भिक्षु थे। गर्मी का मौसम शुरू हो गया था। अतः फा हियान ने अफगानिस्तान में ही गर्मी के दिन बिताए।

अफगानिस्तान से दक्षिण दिशा में दस दिन चलने के बाद फा हियान बन्नू देश में पहुँचा। वहाँ भी तीन हज़ार हीनयानी बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। वहाँ से चलकर तीन दिन बाद उसने एक बार फिर सिंधु नदी पार की।

सिंधु पार करने के बाद फा हियान ने पंजाब के भिदा देश में प्रवेश किया। वहाँ बौद्ध धर्म की महायान और हीनयान दोनों ही शाखाओं के काफी अनुयायी रहते थे। उन्होंने फा हियान के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया।

भिदा से 80 योजन के लगभग दक्षिण-पूर्व की ओर चलकर फा हियान अनेक विहारों को देखता हुआ मथुरा पहुँचा। वहाँ यमुना नदी के दोनों तटों पर बीस विहार बने हुए थे जिनमें लगभग तीन हज़ार भिक्षु रहते थे। उस समय मथुरा में बौद्ध धर्म अत्यंत लोकप्रिय था। राजा और जनता दोनों ही भिक्षुओं का आदर करते थे।

आगे चलकर फा हियान मध्य देश पहुँचा "जिसे गुप्त साम्राज्य का हृदय कहा जा सकता था।" इस प्रदेश का फा हियान ने विस्तृत विवरण दिया है। वहाँ की जलवायु शीतोष्ण थी। लोग समृद्ध और सुखी थे। उनके आवागमन पर कोई प्रतिबंध नहीं था। अपराधियों को शारीरिक दंड नहीं दिए जाते थे; अपराध के अनुसार उनको कम या अधिक जुर्माना देना पड़ता था। दुबारा अपराध करने पर अपराधी का दायाँ हाथ काट दिया जाता था। राजा के अंगरक्षकों को निश्चित वेतन मिलता था। लोगों की सदाचार-प्रियता का वर्णन करते हुए फा हियान ने लिखा है कि "सारे देश में कोई जीव-हिंसा नहीं करता, न कोई शराब पीता है। यहाँ तक कि लोग प्याज और लहसुन भी नहीं खाते....इस देश में सुअर और मुर्गियों का पालन नहीं होता। पशुओं का क्रय-विक्रय नहीं होता। यहाँ के बाजारों में मांस बेचने वालों की दुकानें नहीं हैं और न मदिरा ही बनाई जाती है। वस्तु विनिमय के लिए लोग कौड़ियों का प्रयोग करते हैं।" समाज में भिक्षुओं का सम्मान था। सभी जगह लोग बिस्तर, भोजन और वस्त्र से उनका आतिथ्य करते थे।

मध्य देश में जहाँ-जहाँ भिक्षु रहते थे वहाँ-वहाँ स्तूप बने हुए थे। ये स्तूप बुद्ध के अनुयायियों सारिपुत्र, मुदगलायन और आनंद, तथा विनय एवं सूत्रों (बौद्ध धर्म के नियमों के दो विभाग) के सम्मान में बनाए गए थे। भिक्षुणियाँ अधिकतर आनंद के स्तूप में ही पूजा करती थीं।

इसके बाद फा हियान संकाश्य (आधुनिक उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में सांकिस नामक ग्राम) गया। संकाश्य मध्यप्रदेश से अठारह योजन दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित है। लोगों का विश्वास था कि भगवान बुद्ध तीन महीनों तक अपनी माँ को स्वर्ग में अपना धर्म समझाने के बाद जब पृथ्वी पर लौटे थे तो पहले यहीं उतरे थे। उन्होंने स्वर्ग में तीन महीने तक दैवी भोजन किया था। अतः उनके बदन से दैवी सुगंध निकलती थी। उन्होंने पृथ्वी पर उतरते ही तुरंत स्नान किया। उस स्थान पर बाद में एक स्नानागार बना दिया गया था। फा हियान ने उसे स्वयं देखा था।

संकाश्य में उस समय लगभग एक हजार भिक्षु और भिक्षुणियाँ थीं। उन्हें एक ही स्थान से भोजन मिलता था। उनके निवास स्थान पर एक सफेद कान वाला नाग रहता था। वह उनके लिए एक हितैषी संरक्षक का काम करता था। लोगों का विश्वास था कि वह उनकी भूमि को उपजाऊ बनाता था, समय पर वर्षा करवाता था और उनकी विपत्तियों का निवारण करता था। पुजारियों ने उसके सम्मान में एक मंदिर बनवाया था। उसमें उसके विश्राम करने की व्यवस्था की गई थी। वह नाग साल में एक बार बाहर आता था।

संकाश्य उपजाऊ प्रदेश था। लोग समृद्ध और सुखी थे। फा हियान का वहाँ अच्छा आतिथ्य-सत्कार हुआ। वैसे भी वहाँ के लोग अतिथियों का स्वागत करते थे।

संकाश्य में कुछ समय बिताने के बाद फा हियान सात योजन दक्षिण-पूर्व की ओर चलकर कन्नौज पहुँचा। कन्नौज गंगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहाँ

हीनयान परंपरा के दो विहार थे। गंगा पार कर तीन योजन दक्षिण की ओर चलकर फा हियान आर्यकवन पहुँचा। वहाँ जहाँ-जहाँ भगवान बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया था, ध्यान में भ्रमण किया था या बैठकर विश्राम किया था वहाँ-वहाँ स्तूप बना दिए गए थे।

उस वन से दस योजन दक्षिण-पूर्व की ओर चलकर फा हियान विशारव अथवा अयोध्या पहुँचा। वहाँ बुद्ध ने एक दिन अपनी दातुन जमीन में गाड़ दी थी। उसमें जड़ें निकल आईं और वह सात फीट ऊँची बढ़ गई। उससे अधिक न वह बढ़ी न घटी। बुद्ध के विरोधियों ने एक बार काटकर और दूसरी बार जड़ से उखाड़कर उसे कहीं और फेंक दिया। वहाँ भी उसने पहले की तरह जड़ पकड़ ली और बढ़ गई। अयोध्या में भी कुछ स्तूप बुद्ध की स्मृति में बनाए गए थे। फा हियान वहाँ गया, ध्यान से उन्हें देखा और उसने वहाँ पूजा की।

अयोध्या से आठ योजन दक्षिण में चलकर फा हियान सार्वथि (श्रावस्ती-आधुनिक सहेठ-महेठ जो उत्तर प्रदेश के गोंडा एवं बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित है।) पहुँचा। श्रावस्ती प्राचीनकाल में कौशल के राजा प्रसेनजीत की, जो ईसा से पूर्व लगभग छठी शताब्दी में शासन करता था, सुविख्यात राजधानी थी। वहाँ लगभग दो सौ लोग रहते थे। वहाँ कई स्थान ऐसे थे जो किसी न किसी रूप में कुछ महान व्यक्तियों से जुड़े हुए थे और उनके स्थान पर स्तूप बने हुए थे, जैसे महा प्रजापति (जो शाक्यमुनि बुद्ध की चाची और सेविका थी तथा पहली स्त्री थी जो भिक्षुणी बनाई गई थी), सुदत्त (जो प्राचीन काल में श्रावस्ती के समृद्ध वैश्य परिवार का मुखिया था और दानी होने के कारण अनाथ पिंडदा नाम से विख्यात था), तथा अंगुलिमाल (जो आरंभ में एक डाकू और हत्यारा था, परंतु भगवान बुद्ध के संपर्क और प्रभाव से अर्हत-बौद्ध साधु बन गया)। श्रावस्ती के दक्षिण में सुदत्त ने जीतवन विहार बनवाया था। वह विहार एक बगीचे के बीच में बना था। उस बगीचे को सुदत्त ने बुद्ध के ठहरने के लिए प्रसेनजीत के पुत्र जीत से



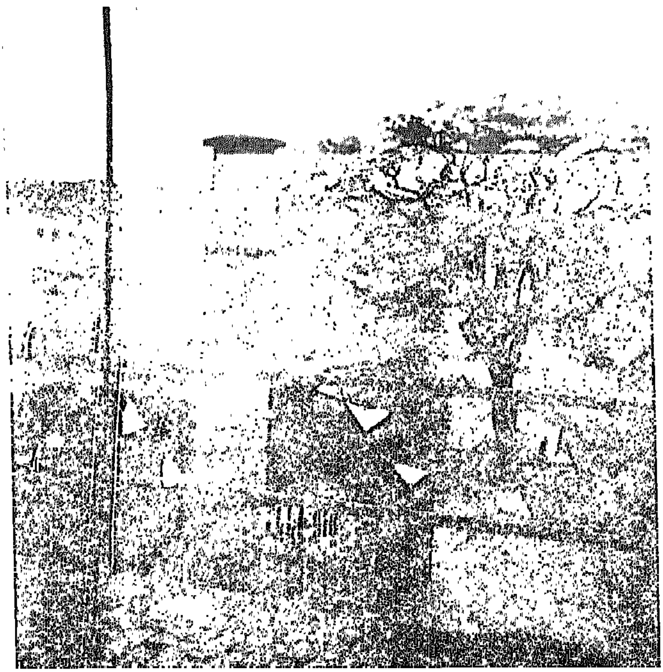
पक्की कुटी--कनिंघम के अनुसार अंगुलिमाल स्तूप, श्रावस्ती

असंख्य स्वर्ण मुद्राएँ देकर खरीदा था। फा हियान के वर्णन के अनुसार जीतवन विहार का दृश्य बहुत ही सुहावना था। वहाँ हरे-भरे लहलहाते सुंदर वृक्ष थे। जगह-जगह विविध रंगों के फूल खिले हुए थे। प्रसेनजीत ने चंदन की लकड़ी में बुद्ध की प्रतिमा बनवाई थी। कहते हैं कि इस प्रकार की यह पहली प्रतिमा थी। जीतवन विहार में भगवान बुद्ध और स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक समय तक रहे थे तथा अपने सिद्धांतों का प्रचार किया था। उनसे प्रभावित होकर कुछ लोग उनके शिष्य बने थे। जीतवन में ही एक स्थान पर सुंदरी नामक स्त्री ने एक

व्यक्ति की हत्या की थी और उस हत्या का झूठा दोष बुद्ध पर लगाया था। एक और स्त्री ने जिसका नाम चचमन था बुद्ध पर भरी सभा में झूठे ही बलात्कार का दोष लगाया था। लोगों का कहना था कि वह जीवित ही नरक चली गई। बुद्ध इन आरोपों से तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे शांत मन से अपना कार्य करते रहे।

फा हियान और उसके साथी ने श्रावस्ती में अपने बिछड़े हुए मित्रों को बड़े दुख भरे हृदय से याद किया। उन्होंने वहाँ रहने वाले साधुओं को अपना परिचय दिया। यह जानकर कि वह चीन से आए थे उन साधुओं को बड़ा अचंभा हुआ। उन साधुओं के मठ से एक मील दूर एक बाँसों का झुरमुट था। उन बाँसों की उत्पत्ति बड़े अजीब ढंग से हुई थी। लोगों का विश्वास था कि वहाँ बुद्ध की कृपा

लुंबिनी में बुद्ध का जन्म-स्थान, जहाँ अब अशोक स्तंभ बना है।

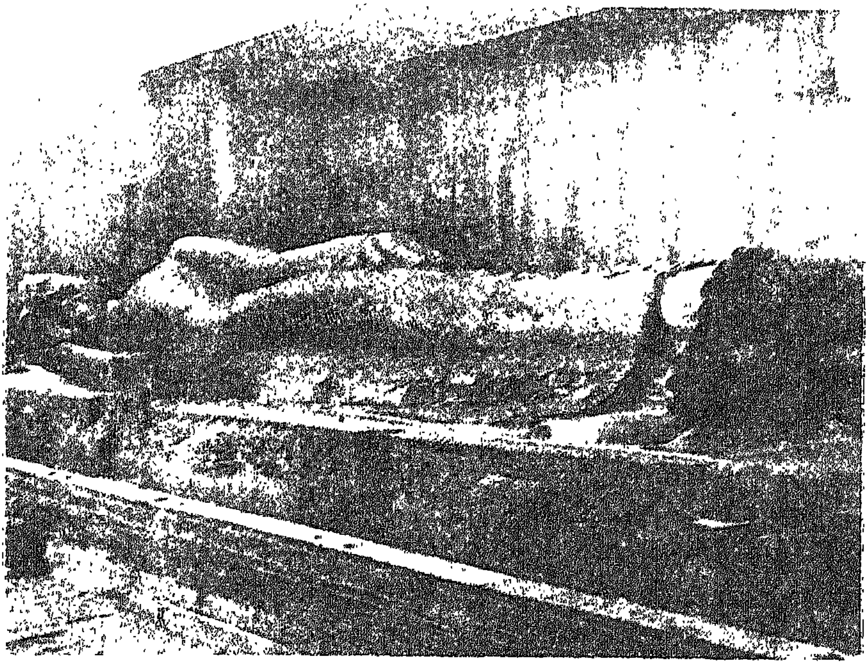


से पाँच सौ अंधे लोगों को दृष्टि मिली थी। अपार आनंद में विभोर होकर जब उन्होंने अपनी छड़ियाँ फेंकी तो उनमें जड़ें निकल आईं। यह सब बुद्ध की दैवी कृपा का प्रताप था।

श्रावस्ती से आगे कुछ अन्य स्थानों का भ्रमण करने के बाद फा हियान कपिलवस्तु गया। विगत में अपनी माता माया, पिता शुद्धोधन, पत्नी यशोधरा, पुत्र राहुल और अन्य कुटुंबियों सहित बुद्ध कपिलवस्तु में ही रहते थे। वहीं से उन्होंने अपने गृहस्थ जीवन का त्याग किया था। लेकिन जब फा हियान वहाँ पहुँचा तो सब कुछ उजड़ चुका था। थोड़े से भिक्षु और साधारण लोगों के दो परिवार ही वहाँ निवास करते थे। राजमहल के स्थान पर अब केवल बुद्ध और उनकी माँ की दो प्रतिमाएँ खड़ी थीं। पुराने ज़माने में चहल-पहल रहने वाली गलियों में अब सफेद हाथी और शेर स्वच्छंद रूप से विचरण करते थे।

कपिलवस्तु से फा हियान और उसका साथी लुंबिनी पहुँचे। लुंबिनी वन में ही बुद्ध का जन्म हुआ था। लुंबिनी से वे रामग्राम गए जो बहुत पहले कोलीय राज्य की राजधानी थी। वहाँ से बीस योजन दूर पूर्व में कुशीनगर नाम का (आधुनिक उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में) एक छोटा सा नगर था। वहाँ बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था। उनके अवशेष आठ भागों में बाँट दिए गए थे। निकटवर्ती देशों के नरेश उन्हें अपने-अपने राज्यों में ले गए थे। वहाँ उन्होंने अवशेषों पर स्तूप बनवाए थे।

कुशीनगर से पूर्व की ओर चलकर फा हियान वैशाली (आधुनिक बिहार के मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ गाँव) पहुँचा। वैशाली छठी शताब्दी ई. पू. में लिच्छिवी राज्य की राजधानी थी। वैशाली के उत्तर में एक बड़ा जंगल तथा एक मंदिर था जिसमें बुद्ध ने कुछ समय तक निवास किया था। उनके शिष्य आनंद की स्मृति में एक स्तूप भी बना था। बुद्ध की समकालीन सुप्रसिद्ध राजनर्तकी आंबपाली वैशाली में ही रहती थी। उसने भी बुद्ध के सम्मान में एक स्तूप बनवाया था।



बुद्ध परिनिर्वाण मुद्रा में, कुशीनगर

नगर से एक मील दूर एक और स्तूप था जिसे, फा हियान को लोगों ने बताया, एक हज़ार पुत्रों और उनकी माँ के समारक के रूप में बनाया गया था।

एक लोककथा के अनुसार वैशाली की रानी ने अपने पति की एक रखैल के भ्रूण को लकड़ी के डिब्बे में बंद करवा के गंगा नदी में फिकवा दिया था। वह डिब्बा बहते-बहते वैशाली राज्य की सीमा को पार कर दूसरे राज्य में चला गया। उसी समय वहाँ का राजा अचानक गंगा के किनारे आया। उसकी निगाह उस डिब्बे पर पड़ी। उसने उसे निकाल लिया। डिब्बा खोला तो उसमें बच्चे दिखाई पड़े। उन्हें पाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उन्हें वह अपने राजमहल में ले गया।



बुद्ध के दाह संस्कार का स्थान, रामभार स्तूप, कुशीनगर

उनका उसने पुत्रों की तरह लालन-पालन किया। जब वे बड़े हो गए तो एक दिन उस राजा ने उन्हें लेकर वैशाली पर आक्रमण किया। वैशाली का राजा घबरा गया। लेकिन उस संकट की घड़ी में उसकी रखैल का मातृभाव जाग उठा। उसने आगे बढ़कर उन बच्चों को अपना दूध पिलाकर शांत कर दिया और वैशाली को युद्ध की अग्नि से बचाया। उक्त स्मारक उसी माँ के सम्मान में बनाया गया था।

वैशाली से आगे चलकर चीनी यात्रियों ने गंगा पार की और मगध की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक बिहार का पटना नगर) पहुँचे। मगध देश की फा हियान ने बड़ी प्रशंसा की है उसने लिखा है : "मध्य मंडल के सब देशों में मगध में ही सबसे अधिक विशाल नगर और कस्बे हैं। यहाँ के निवासी बड़े धनवान और समृद्ध हैं तथा हृदय की उदारता एवं अपने पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य-पालन में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं।" फा हियान ने मगध के निवासियों को मूर्तियों के जुलूस निकालते देखा था। उसके लिए लोग बड़े सुंदर रथ तैयार करते थे और उन्हें रेशम के कपड़ों, सोने-चाँदी आदि से बड़े परिश्रम

से सजाते थे। रथ-यात्रा में सब तरह के लोग बड़ी श्रद्धा और धूम-धाम से भाग लेते थे।

फा हियान ने देखा कि मगध में दान और परोपकार की बड़ी परंपरा थी। वैश्य परिवारों ने दान और मुफ्त औषधियों के वितरण के लिए व्यापक प्रबंध किए थे। इस काम के लिए कुछ घर निश्चित किए थे। देश के सभी गरीब और दुखी लोग, अनाथ, विधुर, लंगड़े-लूले, रोगी वहाँ जाकर अपनी आवश्यकता के अनुसार सहायता ले सकते थे। चिकित्सक रोगियों की परीक्षा करते, रोगों का निदान करते और उनके लिए औषधि, रहने तथा भोजन की व्यवस्था करते थे। रोग मुक्त होने पर वे अपने घरों को वापस चले जाते थे।

पाटलिपुत्र में फा हियान को पता लगा कि उसके वहाँ पहुँचने के लगभग छः सौ साल पहले मगध में सम्राट अशोक राज्य करता था। वह बौद्ध धर्म का महान संरक्षक था। उसने अनेक विहारों का निर्माण करवाया था। उनमें से एक तो बहुत ही शानदार था। उसमें फा हियान के समय सैंकड़ों भिक्षु रहते थे। अनेक विद्वान सत्य की खोज में वहाँ आया करते थे। अशोक द्वारा बनाया हुआ पाटलिपुत्र का राजप्रसाद उस समय तक सुरक्षित था। उसे देखकर फा हियान आश्चर्यचकित हो गया। उसने लिखा है : "राजमहल और नगर के बीच बने सभा-भवन आज भी वैसे ही खड़े हैं जैसे वे पहले थे।" उसने अनुमान लगाया कि उन्हें महाराज अशोक की आज्ञा से देवदूतों ने बनाया होगा। देवदूतों ने ही पत्थर इकट्ठे किए होंगे, दीवार और द्वारों का निर्माण किया होगा। पत्थरों पर की गई खुदाई और पच्चीकारी इतनी सुंदर थी कि उस तरह की रचना मनुष्य के हाथों से संभव नहीं थी।

पाटलिपुत्र के उत्तर में अशोक ने नीली नामक एक नगर बसाया था। वहाँ उसने पत्थर का एक तीस फुट से भी ऊँचा स्तंभ बनवाया था। उसके ऊपर एक शेर की प्रतिमा थी। फा हियान ने उस स्तंभ पर एक शिलालेख भी देखा था

जिसमें नीली नगर बनवाने के कारण तथा बनाने का वर्ष, महीना और तिथि दी हुई थी।

लोगों ने फा हियान को बताया था कि पाटलिपुत्र में राधास्वामी नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह महायान दर्शन का बहुत बड़ा विद्वान था। वह बड़ी सफाई से रहता था। राजा उससे मिलने जाया करता था। लेकिन उसकी विद्वता का सम्मान करने की दृष्टि से राजा कभी भी उसके साथ नहीं बैठता था। यदि कभी स्नेहवश राजा उससे हाथ मिला लेता था तो वह ब्राह्मण तुरंत पानी से अपने हाथ धो लेता था।

आगे भ्रमण करते हुए फा हियान और उसका साथी नाल नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक मंदिर देखा। उसके बाद थोड़ी दूर चलकर उन्होंने राजगृह में प्रवेश किया। राजगृह मगध की पुरानी राजधानी थी। नया राजगृह राजा अजातशत्रु (492 ई.पू.-460 ई.पू.) ने बनवाया था। वहाँ बड़े-बड़े राजमहल थे। बिंबिसार से अशोक तक के मगध राजाओं ने वहाँ निवास किया था। फा हियान ने वहाँ दो बौद्ध विहार देखे थे। बुद्ध के परिनिर्वाण के समय अजातशत्रु कुशीनगर से उनके कुछ अवशेष राजगृह लाया था। उनके ऊपर उसने एक ऊँचा, विशाल, शानदार और सुंदर स्तूप बनवाया था। नये राजगृह से कुछ दूर पुराना राजगृह था। उसे राजा बिंबिसार (लगभग 544 ई.पू.-492 ई.पू.) ने बनवाया था। फा हियान वहाँ गया तो उसे पता लगा कि बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु ने बुद्ध को मरवाने के लिए एक काले हाथी को मदिरा पिलाकर मदमस्त किया था। किंतु वह हाथी जब बुद्ध के सामने पहुँचा तो बजाय उन पर प्रहार करने के उसने उन्हें प्रणाम किया। जीवक ने, जो आंबपाली और राजा बिंबिसार का बेटा था, आंबपाली के उद्यान में एक विहार का निर्माण करवाया था। उसने बुद्ध और उनके एक हज़ार दो सौ पचास शिष्यों को वहाँ

रहने के लिए आमंत्रित किया था। फा हियान ने वह स्थान देखा था। लोग उस स्थान के बारे में यह सब जानते थे। परंतु नए और पुराने राजगृह के सभी भवन उस समय खाली पड़े थे और जीर्णावस्था में थे। आदमी तो वहाँ कोई रहता ही नहीं था।

राजगृह से फा हियान गृध्रकूट पर्वत के ऊपर गया। यह नाम क्यों पड़ा इसकी चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि एक दिन बुद्ध के शिष्य आनंद को एक गुफा में ध्यान करते समय मार पिशून नामक एक देवासुर ने गृध्र बन कर डराने की कोशिश की थी। बुद्ध ने अलौकिक शक्ति से गुफा में छेद करके अपना हाथ अंदर डाला और आनंद के कंधे को थपथपा दिया जिससे उसका डर एकदम समाप्त हो गया। इसी घटना के कारण उस पर्वत का नाम गृध्रकूट पड़ गया था। गुफा पर गृध्र के पंजों और बुद्ध के हाथ के निशान बने थे। फा हियान ने उन्हें देखा था।

गृध्रकूट पर्वत पर बुद्ध ने कई वर्ष बिताए थे। वहाँ वे प्रायः ध्यान में बैठा करते थे। पर्वत के ऊपर एक विशाल भवन था, जिसमें बुद्ध प्रवचन किया करते थे। फा हियान जब वहाँ पहुँचा तो वह खंडित अवस्था में था। छत ढह चुकी थी। लेकिन प्राकृतिक सौंदर्य अपूर्व था। गृध्रकूट में फा हियान ने बुद्ध की पूजा की, उनकी प्रतिमा पर फूल चढ़ाए, धूप एवं दीप जलाए। ध्यान एवं पूजा करते-करते उसका हृदय विह्वल हो उठा। एक समय बुद्ध वहाँ बैठकर ध्यान करते थे और अब नहीं थे यह सोचकर उसकी आँखों में आँसू भर आए। बुद्ध ने वहाँ सूरांगम सूत्र का उपदेश दिया था। अतः फा हियान ने एक रात उस सूत्र का जाप किया और फिर वह राजगृह वापस लौट गया।

राजगृह से फा हियान गया पहुँचा। उस समय वह नगर वीरान हो गया था। वहाँ उसने एक सरोवर देखा जिसमें बुद्ध ने स्नान किया था। ऐसी लोगों की मान्यता थी। वह उस स्थान पर भी गया जहाँ एक लड़की ने दूध की खीर बनाकर

बनाकर बुद्ध को खिलाई थी। वहाँ की जलवायु की फा हियान ने बड़ी प्रशंसा की है। उसका विचार था कि वह पौधों की बढ़वार के लिए बहुत ही अनुकूल थी।

गया में फा हियान उन अनेक स्थलों पर गया, जो बुद्ध के जीवन से किसी न किसी रूप में जुड़े हुए थे। जहाँ उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था उस स्थान पर तीन विहार बने हुए थे। उनमें पुजारी रहते थे। लोग काफी मात्रा में वहाँ चढ़ावा चढ़ाते थे। वहाँ रहने वाले भिक्षु बुद्ध के समय से चली आ रही मान-मर्यादाओं का यथावत उठते-बैठते पालन करते थे।

गया से फा हियान बनारस गया। वहाँ मृगदाव (आधुनिक सारनाथ का पुराना नाम) में उसने विचरण किया। उस वन में उसने दो बौद्ध विहार देखे।



मृगदाव, बनारस



इसीपाटन मृगदाव में पहला उपदेश देते हुए बुद्ध की पाँचवी शताब्दी की प्रतिमा

दोनों में पुजारी रहते थे और नित्य पूजा-पाठ करते थे। सारनाथ में बुद्ध ने पहला उपदेश दिया था और पाँच शिष्य बनाए थे।

बनारस से तेरह योजन दूर उत्तर-पश्चिम की ओर चलकर फा हियान कौशांबी पहुँचा। वहाँ उसने घोचिरवन देखा। उसमें पुराने समय में बुद्ध रहे थे। फा हियान ने हीनयान वर्ग के कुछ भिक्षुओं से भेंट की।

घोचिरवन में फा हियान को पता लगा था कि वहाँ से दो सौ योजन दूर दक्षिण देश था। वह वहाँ नहीं पहुँच सका। परंतु उसने सुना था कि वहाँ पारावत नामक बौद्ध विहार था। वह विहार प्राचीन भारत की स्थापत्य कला का एक सुंदर नमूना था। एक बहुत बड़ी चट्टान को काटकर बनाए गए इस विहार में पाँच मंजिलें थीं। सबसे निचली मंजिल हाथी के आकार की थी। उसमें पाँच सौ कमरे थे। दूसरी मंजिल का आकार शेर जैसा था; उसमें चार सौ कमरे थे। तीसरी का आकार घोड़े जैसा था; उसमें तीन सौ कमरे थे। चौथी बैल जैसी थी; उसमें दो सौ कमरे थे। पाँचवी मंजिल का रूप कबूतर जैसा था; उसमें सौ कमरे थे। सबसे ऊपर एक झरना था जिसका पानी सब मंजिलों में पहुँचता था और अंत में सबसे निचली मंजिल में इकट्ठा होकर दरवाज़े से निकल जाता था। प्रत्येक मंजिल पर पत्थर काटकर खिड़कियाँ बनाई गई थीं। उनमें से काफी रोशनी आती थी; किसी भी कमरे में अंधेरा नहीं रह पाता था। प्रत्येक मंजिल पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। विहार में सदैव विद्वान भिक्षु रहते थे। आस-पास की भूमि पर कोई खेती नहीं होती थी और न वहाँ कोई मनुष्य रहता था। गाँव वहाँ से काफी दूर थे। उन गाँवों के निवासी बौद्ध नहीं थे।

बनारस से पूर्व की ओर चलकर फा हियान पाटलिपुत्र लौट गया। वहाँ वह अपने प्रमुख लक्ष्य की साधना में जुट गया। वह भारत में संपूर्ण विनय ग्रंथों का संकलन करने आया था। उस समय बौद्ध मत अनेक छोटे-छोटे उपमतों में बँटा हुआ था। गुरुजन अपने शिष्यों को **विनय पिटक** की शिक्षा मौखिक रूप से देते

थे। बौद्ध शास्त्र मौखिक ढंग से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चले आ रहे थे। **विनय पिटक** सामान्यतः लिखित रूप में उपलब्ध नहीं थे। एक महायान विहार में फा हियान का **महासांघिक विनय** की एक प्रति प्राप्त हो गई। गलती से वह उसे बुद्ध के समय में ही संकलित मौलिक नियमों का सकंलन समझ बैठा। उसके बाद सुसंयोग से उसे **सर्वास्तिवाद नियमों** की भी एक प्रति मिल गई। चीन में अधिकांश बौद्ध सर्वास्तिवाद मत के अनुयायी थे। अतः फा हियान के लिए वह प्रति बहुत ही मूल्यवान थी। सौभाग्य से उसे **संयुक्ताभिधर्म-हृदय शास्त्र, परिनिर्वाण वैपुल्य सूत्र** और **महासांघिक अभिधर्म** की प्रतियाँ भी प्राप्त हो गईं। इस खोज में फा हियान तीन वर्ष तक पाटलिपुत्र में रुका रहा। क्योंकि ये सभी ग्रंथ संस्कृत या पाली भाषा में थे। उसने भाषाओं का लिखना, पढ़ना और बोलना सीखा तथा **विनय पिटक** आदि ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ अपने हाथों से तैयार की।

पाटलिपुत्र से फा हियान चंपा (आधुनिक भागलपुर) होता हुआ ताम्रलिप्ति चला गया। वहाँ भी उसने दो वर्ष सूत्रों की अनुलिपि तथा मूर्तियों के चित्र खींचने में बिताए।

फा हियान का साथी ताओ-चैंग मध्य देश तक तो उसके साथ रहा। लेकिन मध्य देश में उसे इतना अधिक संतोष मिला और अच्छा लगा कि उसने चीन लौटने का विचार ही छोड़ दिया। वह यहीं रह गया और अपने जीवन के शेष दिन बुद्ध के ध्यान और सेवा में बिताए। फा हियान को भी भारत में बड़ा आत्म-सुख मिला; उसकी बौधिक और धार्मिक जिज्ञासा शांत हुई। लेकिन उसका अंतिम लक्ष्य बौद्ध धर्म के सही सिद्धांतों का समस्त चीन में प्रसार करना था। अतः यहाँ काम पूरा करने के बाद अंत में वह स्वदेश वापस लौट गया।

बौद्ध भक्त होने के कारण फा हियान ने भारत में अपना अधिकांश समय बौद्ध ग्रंथों और बौद्ध स्थलों की खोज में लगाया। उस संबंध में उसे जो अच्छा

या बुरा लगा उसी का उल्लेख उसने अपनी यात्रा के संस्मरणों में किया। किंतु कहीं-कहीं उसने भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का भी चित्रण किया। मध्य देश की, जिसमें आधुनिक उत्तर प्रदेश सम्मिलित है, शासकीय और न्यायिक व्यवस्था की उसने प्रशंसा की है। उसके वर्णन में उस समय के शासन और न्याय के मानवीय रूप की झलक दिखाई पड़ती है। उसने इस बात की चर्चा की है कि अपराधियों को अंग-भंग अथवा मृत्युदंड दिए बिना ही शासक शासन चलाते और समाज को व्यवस्थित रखते थे। राजद्रोहियों को भी मृत्युदंड न देना, और अपराधियों पर कुछ हल्के से जुर्माना लगाना इस बात का संकेत करता है कि एक ओर तो राजतंत्र दयालु था और दूसरी ओर अपराध भी कम थे।

फा हियान ने उस समय की अर्थव्यवस्था की भी कहीं-कहीं चर्चा की है। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का प्रचलन था। सिक्के भी चलते थे। परन्तु अधिकतर वस्तुएँ सस्ती थीं और कौड़ियों से ही खरीदी जा सकती थीं।

उस समय लोग अधिकतर अहिंसा को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे। बाज़ारों में मांस नहीं बिकता था। लोग प्याज-लहसुन भी नहीं खाते थे। पड़ोसियों में सद्भाव था। गरीबों की देखभाल करते थे। दान और परोपकार पर अधिक बल था। अतिथियों का सर्वत्र सत्कार होता था। समाज में विद्वान और साधुओं का आदर होता था। राजा भी उनके समक्ष नतमस्तक होता था। उत्सव धूम-धाम से मनाते थे। समाज में एक बड़ा अपराध था और वह था छुआछूत।

धर्म का समाज ,में महत्त्वपूर्ण स्थान था। लेकिन धर्म के नाम पर झगड़े नहीं होते थे। कुछ लोग कहीं-कहीं आवेशवश परधर्म की निंदा करते थे। लेकिन ऐसे लोगों की संख्या कम थी। धार्मिक उत्सवों पर हिंदू और बौद्ध दोनों ही देवताओं की साथ-साथ प्रदर्शन और पूजा होती थी। धार्मिक सह-अस्तित्व और सहिष्णुता

उस समय की भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता थी। बौद्धों में आपस में अनेक मतभेद थे। लेकिन फिर भी वे न तो झगड़ते थे न मार-काट मचाते थे। वे विहारों में रहकर नियम-संयम से अपना जीवन बिताते थे। हिंदू और बौद्ध साथ-साथ उठते-बैठते थे और एक-दूसरे की सहायता करते थे। लोग धर्म और कानून दोनों से डरते थे। अतः समाज में शांति और समृद्धि थी। फा हियान ने अपने विवरण में जगह-जगह इस बात पर बल दिया है।

भारत में लगभग छः वर्ष बिताने के बाद फा हियान एक दिन ताम्रलिप्ति से एक बड़े व्यापारी जहाज में बैठकर दक्षिण-पश्चिम दिशा में सिंघल के लिए चल पड़ा। उस समय शरद् ऋतु आरंभ ही हुई थी। हवाओं का रूख अनुकूल था। चौदह दिन बंगाल की खाड़ी में यात्रा करने के बाद फा हियान सिंघल पहुँचा। वहाँ वह दो वर्षों तक ठहरा। वहाँ के पवित्र एवं प्रसिद्ध स्थानों, विहारों तथा बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केंद्रों का उसने भ्रमण किया। वह अभयगिरि पर गया जहाँ एक बड़ा विहार था। उसमें पाँच हज़ार भिक्षु रहते थे। उसमें एक बुद्ध कक्ष था जिसमें सोने-चाँदी और कीमती पत्थरों का सुंदर काम था। उस कक्ष में बुद्ध की बीस फुट ऊँची जेड में बनी चमचमाती प्रतिमा खड़ी थीं। उस प्रतिमा के दाएँ हाथ की हथेली में एक बेशकीमती मोती जुड़ा हुआ था। अभयगिरि से चालीस ली की दूरी पर मिहिंतले पर्वत था। वहाँ भद्रिका मंदिर था जिसमें दो हज़ार पुजारी रहते थे। वहीं धर्मगुप्त भी रहते थे। उनके उदार व्यक्तित्व का इतना भारी प्रभाव था कि वहाँ चूहे और सांप एक साथ स्नेहपूर्वक रहते थे।

बड़े हर्षोल्लास से मनाए जाने वाले दंतधातु महोत्सव को देखने का भी फा हियान को अवसर मिला। उस उत्सव में बुद्ध के दाँत का प्रदर्शन होता था। राजा-रंक सभी बड़े उत्साह से उसमें भाग लेते थे और उस दाँत के प्रति अपनी-अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते थे। दंतधातु उत्सव का जुलूस नगर की

साफ-सुथरी गलियों से निकलता हुआ अभयगिरि पहुँचता था। वहाँ भी अपार जनसमूह बुद्ध के दाँत के आगे धूप-दीप जलाता था और प्रेम से आराधना करता था।

फा हियान ने सिंघल की शीतोष्ण जलवायु की प्रशंसा की है। उस जलवायु के कारण पौधे साल भर फलते-फूलते रहते थे। वनस्पतियाँ हरी-भरी रहती थीं। वहाँ की भूमि उपजाऊ थी। उसमें किसान मनचाही फसलें उगाते थे।

सिंघल में अपने निवास के समय फा हियान को कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी प्राप्त हुए, जैसे, **दीर्घागम सूत्र** और **संयुक्तागम सूत्र** एवं **संयुक्त पंचपिटक**। उस समय तक ये सब ग्रंथ चीन में न तो उपलब्ध थे और न ही वहाँ किसी को उनके बारे में कुछ पता था। अंतः उन्हें पाकर फा हियान मन ही मन बहुत प्रसन्न था। वे ग्रंथ संस्कृत भाषा में थे। फा हियान सिंघल में रहकर अपने साथ ले जाने के लिए उन ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ बनाता रहा।

अपना देश छोड़े उसे बहुत वर्ष बीत गए थे। उसके कुछ साथी रास्ते से ही वापस चले गए थे। एक स्वर्ग सिधार गया और एक भारत में ही रह गया था। फा हियान एक दम अकेला पड़ गया था। इतने वर्षों से चीन का कोई समाचार भी उसे नहीं मिला था। वहाँ का भोजन, वनस्पति और वातावरण उसे बार-बार याद आता था। वह अपनी जन्म-भूमि सें हज़ारों मील दूर था। इस कारण वह निरंतर उदास रहने लगा। एक दिन अचानक उसने एक व्यापारी को अनुराधपुर के अभयगिरि विहार में बुद्ध की प्रतिमा पर चीन से लाए एक सफेद रेशम के पंखे को चढ़ाते देखा। उसे देखते ही वह भावातुर हो गया। अपनी भावनाओं को नियंत्रण में नहीं रख सका। उसके नेत्र आँसुओं से द्रवित हो गए।

ऐसी स्थिति में फा हियान चीन वापस जाने के लिए आतुर होने लगा। एक दिन एक बड़े व्यापारी जहाज़ में बैठकर वह सिंघल से स्वदेश की ओर चल पड़ा।

उस जहाज में दो सौ यात्री थे। साथ में एक छोटा जहाज भी था। समय पड़ने पर उससे सहायता ली जा सकती थी। दो दिन यात्रा के बाद एक भयानक तूफान आया। उस तूफान के बारे में फा हियान ने लिखा है कि उसी समय उनके जहाज में छेद हो गया और पानी अंदर आने लगा। उस पर सवार व्यापारी छोटे जहाज पर जाना चाहते थे। किंतु छोटे जहाज के लोगों को डर लगा कि यदि बड़े जहाज के सारे आदमी उस पर आ गए तो उन्हें दबा देंगे। अतः उन्होंने जहाज की मोटी रस्सी दो टुकड़ों में काट दी। मृत्यु निकट देखकर व्यापारी घबरा गए। जहाज़ में पानी न भर जाए इस डर से उन्होंने अपना सारा भारी सामान पानी में फेंक दिया। फा हियान ने भी अपनी सुराही, चिलमची और कुछ अन्य वस्तुएँ समुद्र में फेंक दीं। एक समय तो फा हियान डर कर सोचने लगा कि कहीं व्यापारी उसकी पुस्तकों और मूर्तियों को समुद्र में न फेंक दें। लेकिन उसने साहस न छोड़ा। वह एकाग्र मन से भगवान बुद्ध से प्रार्थना करने लगा। तूफान तेरह दिन तक चलता रहा। उसके बाद फा हियान का जहाज एक द्वीप के पास पहुँच गया। ज्वार उतरने पर लोगों को जहाज का छेद दिखाई पड़ गया। उन्होंने तुरंत उसे बंद कर दिया। उसके बाद वे फिर अपनी यात्रा पर चल पड़े।

आगे के समुद्र का वर्णन करते हुए फा हियान ने लिखा है कि "आसपास समुद्र में बहुत से डाकू थे। उनके हमले का डर सदैव बना रहता था। विशाल समुद्र चारों ओर फैला था। उसकी सीमा ही नहीं दिखाई देती थी। यह भी नहीं पता लगता था कि पूर्व किधर है और पश्चिम किधर। सूरज, चाँद और तारों को देखकर ही दिशा का अनुमान लगाना पड़ता था और आगे बढ़ना पड़ता था। बादलों से घिरे बरसाती मौसम में हमारा जहाज दिशाविहीन होकर हवाओं के रूख के अनुसार ही चलता था। रात के अंधेरे में कुछ भी तो दिखाई नहीं पड़ता था। समुद्र की लहरें एक-दूसरे से टकरा रहीं थीं और उनमें से आग जैसी रोशनी निकल रही थी जिससे बड़े-बड़े कछुए, समुद्री छिपकलियाँ

और गहरे सागर में रहने वाले दानव दिखाई पड़ते थे। दिशा विहीन हो जाने से व्यापारी निराश होने लगे। समुद्र गहरा और अथाह था। अतः लंगर डालने की, और जहाज़ को रोकने की जगह नहीं मिल रही थी। परंतु ज्योंही आसमान साफ हुआ उन्हें दिशाओं का पता लग गया और वे अपने जहाज को सही दिशा में चलाने लगे। यदि उनका जहाज किसी छिपी हुई चट्टान से टकरा जाता तो उनके बचने का कोई रास्ता नहीं था।''

नब्बे दिन की खतरनाक यात्रा के बाद फा हियान का जहाज़ सुरक्षित रूप से जावा पहुँच गया। फा हियान उस द्वीप पर उतर गया और अगले पाँच महीनों तक वहीं रहा। उस समय जावा में ब्राह्मण धर्म समृद्ध अवस्था में था। बौद्ध धर्म की स्थिति अत्यंत असंतोषजनक थी।

जावा में पाँच महीने बिताने के बाद फा हियान एक दिन फिर से बड़े व्यापारी जहाज में बैठकर चीन के लिए रवाना हो गया। उस जहाज पर भी दो सौ यात्री थे और उनके लिए पचास दिन तक खाने-पीने की सामग्री थी। वह जहाज चीन के बन्दरगाह कैंटन पहुँचने के विचार से उत्तर-पूर्व की ओर चल पड़ा। एक महीने की यात्रा के बाद एक रात वह भी समुद्री तूफान में फंस गया। लगता है फा हियान की बार-बार परीक्षा हो रही थी। सारे लोग घबरा गए। फा हियान प्रार्थना में लीन हो गया। इस बीच आसमान में बादल छाते गए। अंधेरा होता गया। जहाज के कप्तान को दिशाभ्रम हो गया। परिणाम स्वरूप सत्तर दिन बीत गए। खाने-पीने की सामग्री लगभग खत्म होने लगी। समुद्री पानी से भोजन पकाना पड़ा और पीने के पानी का राशन कर दिया गया। फिर सब कुछ खत्म हो गया। तब कप्तान ने जहाज को उत्तर-पश्चिम की दिशा में चलाना आरंभ कर दिया। बारह दिन की यात्रा के बाद सन् 414 में जहाज सकुशल चीन के चैङ-कुआङ (आधुनिक किआओ चाऊ) प्रदेश में

पहुँच गया। वहाँ के राज्य पाल ली-ई ने फा हियान का भव्य स्वागत किया गया और उसे अपनी राजधानी चिङ-चाऊ ले गया।

चिंङ-चाऊ में एक जाड़ा और गर्मी बिताने के बाद फा हियान चीन की राजधानी नानकिङ में पहुँचा। जिन विनय और सूत्र ग्रंथों को वह भारत से अपने साथ ले गया था उन्हें उसने वहाँ के धर्म-गुरुओं को समर्पित कर दिया। नानकिङ में उन ग्रंथों की हस्तलिपियों एवं चित्रों की पहली बार प्रदर्शिनी की गई। उस समय चीन में सीन राजवंश का ई-शी युग था।

फा हियान ने चीन में चंगन प्रांत से भारत के मध्य देश तक यात्रा छः वर्ष में पूरी की। अगले छः वर्ष वह भारत में रहा। उसके बाद तीन वर्ष में वह चिंङ-चाऊ पहुँचा। इस बीच उसने लगभग तीस देशों की यात्रा की। उसने अपने व्यक्तिगत सुख-सुविधा की ओर कभी कोई ध्यान नहीं दिया। बीहड़ रेगिस्तानों, गहरी खाईयों, गहन वनों, दुर्गम पर्वत श्रेणियों और भयंकर समुद्रों की उसने यात्रा की और अनेक प्रकार के कष्ट सहे, केवल इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कि वह अपने देशवासियों तक बौद्ध धर्म के सिद्धांतों और नियमों को सही रूप में पहुँचा सके। अंत में भगवान बुद्ध की अनुकंपा से उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफलता प्राप्त हुई। अपनी यात्रा और खोज के अनुभव के विवरण को उसने बाँस के फलकों और रेशम के पट पर लिख दिया। वह चाहता था कि भविष्य में सहृदय पाठक भी उसके साझीदार बन सकें।

फा हियान भली-भाँति जानता था कि उसके द्वारा लाए गए ग्रंथों का चीनी बौद्धों के लिए कोई मूल्य नहीं था क्योंकि वे संस्कृत में थे और वहाँ संस्कृत कोई जानता नहीं था। अतः अपने जीवन के अंतिम वर्ष फा हियान ने उन ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में बिताए। इस कार्य में भारतीय विद्वान बुद्धभद्र ने उसकी सहायता की। अठासी वर्ष की उम्र में फा हियान का निधन हो गया। उसके कार्यों से प्रेरित होकर कई और चीनी विद्वान भारत आए।

सातवीं शताब्दी में सर्वाधिक चीनी यात्री भारत आए। इत्सिङ ने बत्तीस ऐसे चीनी यात्रियों के नाम दिए हैं जिन्हें वह जानता था। अनेक ऐसे भी थे जिन्हें वह नाम से नहीं जानता था। कई चीनी यात्रियों को संस्कृत भाषा का ज्ञान था। उनमें से कुछ कई बार भारत आए थे और नालंदा में रह चुके थे। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्रियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम श्वेन त्साङ का था।

श्वेन त्साङ का जन्म सन् 603 में होनान प्रांत में चिन ल्यू के एक पुराने प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उसके प्रपितामह शङ-तङ के प्रीफैक्ट थे। उसके पितामह शाही महाविद्यालय के अध्यक्ष थे। उन्हें खर्चे के लिए एक नगर का राजस्व मिलता था। लेकिन श्वेन त्साङ के पिता चेन हुई को जन-जीवन पसंद नहीं था। उनका जीवन सादा और विचार ऊँचे थे। उन्हें न तो सम्मान की भूख थी और न ही शाही पदों की लालसा। राज्य की ओर से उन्हें कई ऊँचे प्रशासनिक पद दिए गए, परंतु उन्होंने उन्हें स्वीकार नहीं किया। उन्हें तो अपने पुस्तकालय की शांति अधिक पसंद थी। वे अपना अधिकांश समय अध्ययन में

ही व्यतीत करते थे। उनके व्यक्तित्व ने श्वेन त्साङ के जीवन को प्रभावित किया। श्वेन त्साङ को अध्ययन की प्रेरणा उन्ही से प्राप्त हुई थी।

श्वेन त्साङ की शिक्षा उसके पिता की देखरेख में आरंभ हुई थी। बचपन में जबकि उसके साथी खेल-कूद, जुआ, गाने-बजाने आदि में आनंद लेते थे, वह प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन में अपना समय लगाता था। वह अपने जीवन को प्राचीन ऋषियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता था। उसके पिता प्राचीन चीन में प्रचलित धर्म के अनुयायी थे। लेकिन श्वेन त्साङ के भाई चेङ सी ने बौद्ध धर्म अपना लिया था। वह लोयाङ में एक विहार में बौद्ध शिक्षक के रूप में काम करते थे। उनसे प्रभावित होकर श्वेन त्साङ भी बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुआ। वह स्वयं भी एक बौद्ध भिक्षु बन गया और लोयाङ में ही रहने लगा। उसे शाही संरक्षण मिल गया और एक छात्रवृत्ति भी जो उसकी उम्र वालों को प्राप्त नहीं थी। इससे वह निश्चित होकर अपने धार्मिक अध्ययन में लगा रहा। लोयाङ में वह तेरह वर्ष की आयु तक अध्ययन करता रहा।

श्वेन त्साङ की स्मरण शक्ति बहुत ही प्रखर थी। अतः जल्दी ही उसने महायान ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। किसी भी पुस्तक को वह एक बार पढ़कर अच्छी तरह समझ लेता था। तेरह वर्ष की उम्र में ही उसने अत्यंत सूक्ष्म सिद्धांतों का प्रतिपादन कर दिया।

उन दिनों चीन की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति बहुत ही खराब थी। सुई राजवंश का पतन हो रहा था। विरोधी तत्व अराजकता और लूटमार में लगे हुए थे। जनता बड़ी डरी हुई थी। इस स्थिति से बचने के लिए और शांति की खोज में श्वेन त्साङ और उसके भाई को लोयाङ से भागना पड़ा। पहले तो वे उत्तरी चीन की राजधानी चंगन गए। वहाँ से वे हन चुङ गए और फिर उत्तर-पश्चिमी चीन के चेङ तू नगर में जाकर रहने लगे।

चेङ तू में श्वेन त्साङ और उसका भाई हुङ हुई मंदिर में ठहरे। वहाँ श्वेन त्साङ बीस वर्ष की उम्र तक भिक्षु या पुरोहित का काम करता रहा। चेङ तू के राज्यपाल ने श्वेन त्साङ का बहुत आदर किया। वहाँ रहकर श्वेन त्साङ ने बौद्ध और बौद्धेतर साहित्य पर व्याख्यान दिए। उससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। विद्वान लोग उसका आदर करने लगे। उसकी ख्याति बढ़ने लगी। उसके वरिष्ठ उसकी विद्वता की प्रशंसा करने लगे। उसने अपने समकालीन बड़े-बड़े बौद्ध विद्वानों से संपर्क स्थापित किया। उनसे मिलने वह चीन के अनेक स्थानों पर गया। अंत में वह चंगन जा पहुँचा। चीनी विद्वान उसे जो कुछ सिखा सकते थे वह सब उसने सीख लिया। अनेक विवादग्रस्त विषयों पर उसने उनसे चर्चा की। वह चाहता था कि उस चर्चा तथा चीन में उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थों से वह बुद्ध के उपदेशों और नियमों को भली-भाँति समझ ले। परंतु उसे लगा कि उनमें अनेक प्रकार का विरोधाभास था; सिद्धांत और व्यवहार में बहुत भेद था। अतः सत्य की खोज करने के लिए फा हियान की भाँति उसने भी भारत आने का निश्चय किया।

सन् 629 में सत्ताइस वर्ष की उम्र में श्वेन त्साङ चंगन से एक पुरोहित के साथ भारत यात्रा पर निकल पड़ा। कुछ नगरों में थोड़ा-थोड़ा रूकने के बाद वह लियाङ चाउ पहुँचा। लियाङ चाउ में तिब्बत तथा कुछ अन्य स्थानों के व्यापारी इकट्ठे होते थे और वहाँ के राज्यपाल से स्वीकृति लेकर अन्य देशों में व्यापार के लिए जाया करते थे। श्वेन त्साङ ने उन सौदागरों से भेंट की, उन्हें अपनी यात्रा का उद्देश्य बताया। इससे वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने श्वेन त्साङ का बड़ा सम्मान किया। उसे उसकी यात्रा के लिए आवश्यक सहायता भी प्रदान की। लेकिन लियाङ चाउ के राज्यपाल ने श्वेन त्साङ को आगे की यात्रा की आज्ञा देने से इंकार कर दिया। श्वेन त्साङ उससे निराश नहीं हुआ। वह दो भिक्षुओं ही लिन और ताउ चिङ के साथ छिपता-छिपता किसी प्रकार हुलू नदी के दक्षिण में क्वाचाउ कस्बे तक जा पहुँचा। वहाँ से कुछ दूर उत्तर दिशा में चलकर उसने एक

व्यक्ति के साथ रात में नदी पार की। उसके आगे वह अकेला ही चल पड़ा। रास्ते में चीन राज्य के पाँच दुर्ग और थे। वहाँ भी कड़ी सुरक्षा थी। उनकों पार करना कोई सरल काम नहीं था। फिर भी श्वेन त्साङ स्वयं को जोखिम में डालकर तथा दुर्ग रक्षकों की आँख बचाकर दुर्गों को पार कर गया। उसके दृढ़ निश्चय को देखकर कुछ शाही अधिकारियों ने स्वयं इस कार्य में उसकी सहायता की थी।

सही सलामत सीमा पार करने के बाद वह मो किया एन अथवा शा हो रेगिस्तान में फँस गया। उसके पास जो पानी था वह भूल से गिर गया। इतना दिशाभ्रम हुआ कि उसे समझ नहीं आ रहा था कि किधर जाए। पाँच दिन और चार रातों तक उसे प्यासे ही रहना पड़ा। उसने अपना धैर्य नहीं छोड़ा और आगे की यात्रा जारी रखी। सौभाग्य से वह एक नखलिस्तान में जा पहुँचा। वहाँ उसे और उसके घोड़े को ठंडी हवा, शीतल जल और हरी घास मिल गई। उससे उन दोनों की थकान उतर गई। उन्हें एक बार फिर नया जीवन मिल गया। कुछ समय तक विश्राम करने के बाद श्वेन त्साङ आगे बढ़ा और अंत में वह ईगू पहुँच गया।

कुछ दिन ईगू में रहने के बाद वह काओ-चङ (आधुनिक तुरफान) जा पहुँचा। वहाँ के राजा ने उसका बड़ा स्वागत किया। राजा और रानी की इच्छा थी कि श्वेन त्साङ सदैव के लिए उनके पास ही रह जाए। लेकिन वह उसके लिए तैयार नहीं था। वह केवल एक महीने तक ही वहाँ रहा। चलते समय राजा ने बहुत सारी बहुमूल्य वस्तुएँ उसे भेंट में दीं।

काओ चङ से चलकर श्वेन त्साङ ओकीनो (आधुनिक कराशर अथवा कराशहर) प्रदेश में पहुँचा। श्वेन त्साङ के अनुसार वहाँ की सड़के ढालू और सुरक्षित थी। भूमि उपजाऊ थी। सिंचाई के साधन अच्छे थे। ज्वार, गेहूँ, मुनक्का, अंगूर, नासपाती, बेर आदि फल पैदा होते थे। वहाँ की जलवायु सुहावनी और सुखद

थी। वहाँ के निवासियों का व्यवहार अच्छा था। ओकीनों प्रदेश में लगभग दस 'संघाराम' बने हुए थे। उनमें हीनयान धर्म के दो हज़ार बौद्ध संन्यासी निवास करते थे। वहाँ प्रचलित सूत्र, विनय और अन्य ग्रंथ भारतवर्ष के जैसे ही थे। उनकी लिखावट भी भारतवर्ष की लिखावट से मिलती-जुलती थी। वहाँ के व्यापारी सोने-चांदी-ताँबे के सिक्कों का प्रयोग करते थे।

काओ चङ से 600 ली चलकर श्वेन त्साङ किउची राज्य पहुँचा। वहाँ चावल और अन्य अन्नों के साथ-साथ अंगूर, अनार, बेर, नासपाती, आड़ू, बादाम आदि की अच्छी पैदावार होती थी। वहाँ सोना, ताँबा, लोहा, सीसा और टिन की खानें भी थीं। वहाँ भी सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रचलन था। वहाँ की लेखन-प्रणाली भारत जैसी ही थी। वहाँ के लोग वीणा और बाँसुरी बहुत अच्छी बजाते थे।

किउची में लगभग 100 विहार थे। उनमें पाँच हजार हीनयान संप्रदाय के भिक्षु निवास करते थे। उनके सूत्र और विनय भारतवर्ष जैसे ही थे। किऊची राज्य के पूर्व में दो विहार थे। उनका नाम चौहली था। वहाँ बुद्ध की एक भव्य मूर्ति थी। उसके निर्माण में बेशकीमती वस्तुओं का प्रयोग किया गया था। एक विहार में एक चमकीला पत्थर रखा हुआ था। उस पर बुद्ध का एक फुट और तीन इंच लंबा और आठ इंच चौड़ा एक चरण चिह्न बना हुआ था। प्रत्येक व्रतोत्सव के समापन पर उसमें से एक विशेष प्रकार की चमक और प्रकाश निकलने लगता था।

मुख्य नगर के पश्चिमी द्वार के बाहर सड़क के दाएँ-बाएँ लगभग 90 फुट ऊँची बुद्ध की दो मूर्तियाँ थीं। उनके आगे एक बड़ा मैदान था। वहाँ हर पाँच साल बाद राजा एक बड़े उत्सव का आयोजन करवाता था। वह उत्सव दस दिन तक चलता था। उसमें भाग लेने के लिए अनेक देशों के साधु आते थे। राजा धर्म पर उपदेश करवाता था। उनमें वह स्वयं और राज्य के अन्य अधिकारी भाग लेते थे।

किउची से श्वेन त्साङ आगे चलकर कई राज्यों से गुजरा। वहाँ उसने कई तरह के झील, झरने, पहाड़ियाँ और रेगिस्तान देखे।

वाजुका या अक्सू राज्य में सुयेह नगर से 400 ली पश्चिम में वह सहस्रधारा पहुँचा। सहस्रधारा के दक्षिण में बर्फीले पहाड़ थे। शेष भूमि समतल और उपजाऊ थी। वृक्ष सघन और छायादार थे। वसंत ऋतु में वे नाना प्रकार के फूलों से लद जाते थे।

सहस्रधारा में पानी के एक हज़ार सोते और झीलें थीं। इसी कारण उस स्थान का नाम सहस्रधारा पड़ा था। टोहकियों का खान प्रतिवर्ष गर्मी के दिनों में वहाँ जाकर रहता था। वहाँ बहुत-सारे पालतू हिरन भी विचरण करते थे। खान उन्हें बहुत प्यार करता था। उन हिरनों के घंटी और छल्ले बँधे हुए थे। अजनबियों को देखकर वे न तो डरते थे और न भागते थे। खान ने उन हिरनों के वध का निषेध किया हुआ था।

आगे चलकर कुछ राज्यों को पार कर श्वेन त्साङ फरगान पहुँचा। वहाँ की भेड़ें और घोड़े अच्छे होते थे। निवासी वीर और साहसी थे। वहाँ कुछ वर्षों से कोई शासक नहीं था। जिसकी लाठी उसी की भैंस थी।

फरगान से श्वेन त्साङ सुतृश्ना राज्य में गया। वह राज्य तुर्कों के अधीन था। वहाँ से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने पर श्वेन त्साङ को एक बहुत बड़ा रेगिस्तान मिला। वहाँ न पानी था न घास। उसमें मार्ग खोजना भी एक कठिन कार्य था। केवल बड़े-बड़े पहाड़ों को देखकर और इधर-उधर बिखरी हुई हड्डियों के आधार पर ही मार्ग का अनुमान करना पड़ता था।

सुतृश्ना से निकलकर श्वेन त्साङ समरकंद, बोखारा आदि राज्यों में घूमता हुआ केश राज्य में पहुँचा। श्वेन त्साङ का कहना है कि उस समय समरकंद व्यापार का बहुत बड़ा केंद्र था। अनेक देशों के सौदागर अपनी-अपनी बहुमूल्य वस्तुएँ

लेकर समरकंद में एकत्रित हुआ करते थे। वहाँ की भूमि उपजाऊ थी। फसलें अच्छी होती थीं। फूल और फल अधिकता से होते थे। वहाँ के शेन जाति के घोड़े काफी अच्छे माने जाते थे। समरकंद के निवासी कारीगरी और वाणिज्य में बहुत कुशल थे।

केश में श्वेन त्साङ को दुर्गम पहाड़ों के बीच से गुजरना पड़ा। वहाँ की पहाड़ी सड़के बहुत ढालू थीं। रास्ते तंग थे। उन्हें पार करना कठिन और भयावह था। वहाँ न गाँव थे न आबादी। पानी और फलों की भी कमी थी। बस पहाड़ ही पहाड़ दिखाई देते थे। इस प्रकार 300 ली यात्रा करने के बाद श्वेन त्साङ ने लोहे के फाटकों में प्रवेश किया। वे फाटक एक दर्रे के द्वार पर लगे हुए थे। फाटक लकड़ी और लोहे के बने थे। उनमें अनेक घंटे लटके हुए थे। जब वे फाटक बंद कर दिए जाते थे तो कोई भी मनुष्य उस दर्रे में से न तो निकल सकता था और न अंदर जा सकता था। दर्रे के बीच रास्ता संकरा और बहुत ही कठिन था। रास्ते के दोनों ओर पत्थर की ऊँची-ऊँची दीवारें थीं, उनका रंग लोहे के रंग के समान था।

लौह फाटक पार करके श्वेन त्साङ टुहोलो (बदख्शान) प्रदेश में गया। उस राज्य के पश्चिम की ओर फारस की सीमा थी। पूर्व में सङलिंङ पहाड़, दक्षिण में बर्फ से ढकी बड़ी-बड़ी पर्वत शृंखलाएँ थी। उत्तर में लोहे के फाटक थे। टुहोलो में तुर्कों का राज्य था।

टुहोलो से कुदज़ होकर श्वेन त्साङ बलख गया। बलख उन दिनों प्रायः लघु राजगृह के नाम से जाना जाता था। वहाँ अनेक प्रकार की फसलें उगती थीं। बग़ीचों और जलाशयों में अनेक पौधे फूलों से लदे रहते थे।

बलख में लगभग सौ विहार थे। उनमें तीन हज़ार संन्यासी रहते थे। वे हीनयान संप्रदाय के अनुयायी थे। नगर के बाहर दक्षिण-पश्चिम दिशा में नवसंघाराम

विहार था। उसमें शास्त्रों के लेखक बड़े-बड़े बौद्धाचार्य रहते थे। वहाँ एक मंदिर था जिसमें बुद्ध की एक रत्नजटित मूर्ति स्थापित थी। वह मूर्ति नाना प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित थी। बौद्धमंदिर के दक्षिणी भाग में बुद्ध के हाथ धोने का पात्र रखा हुआ था। उसमें लगभग एक घड़ा पानी आता था। वह पात्र कई रंग का था। उसकी चमक से आँखें चौंधिया जाती थीं। श्वेन त्साङ यह पता नहीं लगा सका कि वह पात्र सोने का था अथवा पत्थर का। उसी मंदिर में बुद्ध का एक दाँत भी रखा था। वह लगभग एक इंच लंबा और पौन इंच चौड़ा था। उसका रंग कुछ-कुछ पीलापन लिए हुए सफेद और चमकदार था। श्वेन त्साङ ने बुद्ध की कुशा घास से बनी लगभग दो फुट लंबी और सात इंच गोल झाडू भी देखी। उसकी मूठ में अनेक रत्न जड़े हुए थे। बौद्ध भक्त इन तीनों अवशेषों की प्रत्येक छटी के व्रत के दिन पूजा करते थे और उन पर भेंट चढ़ाते थे। उन्हें उन अवशेषों से एक प्रकार की ज्योति निकलती दिखाई देती थी।

बलख के नव संघाराम विहार में श्वेन त्साङ एक महीने तक रहा। वहाँ उसका विद्वान बौद्ध भिक्षु प्रज्ञांकर से परिचय हुआ। प्रज्ञांकर पंजाब का निवासी था। वह बचपन से ही बड़ा मेधावी था। उसे **हीनयान अभिधर्म, कात्यायन कोष** आदि का पूरा ज्ञान था। प्रज्ञांकर की सहायता से श्वेन त्साङ ने **विभाषा शास्त्र** का अध्ययन किया। वहीं श्वेन त्साङ दो अन्य बौद्ध भिक्षुओं के संपर्क में आया। उनके नाम थे– धर्मप्रिय और धर्माकर। वे हीनयान के **त्रिपिटक** (बौद्ध धर्म के मुख्य ग्रंथ) के अच्छे विद्वान थे।

बलख से श्वेन त्साङ ने प्रज्ञांकर के साथ आगे की यात्रा की। उन्होंने कई राज्यों को साथ पार किया। गची या गज राज्य में उन्होंने दस विहार देखे। उनमें 200 हीनयानी भिक्षु रहते थे। गची पहाड़ी क्षेत्र था। उसके दक्षिण-पश्चिम की ओर से उन्होंने हिमालय पर्वत में प्रवेश किया। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि ये पर्वत ऊँचे और उनकी घाटियाँ गहरी थीं। ऊँची-नीची भूमि और नदियों के किनारे

बहुत भयानक थे। आंधियाँ चलती रहती थी और बर्फ की वर्षा होती रहती थी। बर्फ के ढेर घाटियों में बने रास्ते को ढक लेते थे जिससे आवागमन रुक जाता था।

कई बार डाकू यात्रियों का राह चलते वध कर देते थे। इन सब खतरों के बावजूद श्वेन त्साङ और प्रज्ञांकर ने लगभग 600 ली लंबा पहाड़ी रास्ता पार किया और वे वामियान पहुँच गए।

वामियान बर्फीले पहाड़ों के बीच में बसा हुआ था। वहाँ का राजा शाक्य वंश का माना जाता था। उसने श्वेन त्साङ को अपने राजमहल में आमंत्रित किया जिससे कि वह वहाँ के बौद्ध मंदिरों में पूजा कर सके। वहाँ पहुँचने पर श्वेन त्साङ ने वामियान पहाड़ी के ढलान पर बुद्ध की डेढ़ सौ फुट ऊँची एक विशाल मूर्ति देखी। उसके चारों ओर सुनहरी रंग झलकता था। उसके बेशकीमती आभूषणों से नेत्रों को चकाचौंध करने वाली ज्योति निकलती थी। श्वेन त्साङ ने उस स्थान से कुछ दूरी पर बुद्ध की एक और खड़ी मूर्ति देखी। वह सौ फुट ऊँची थी। वह किसी धातु की बनी हुई थी। पहले उसके अंग ढाले गए थे और बाद में वे जोड़ दिए गए थे। इन मूर्तियों को देखने के पश्चात श्वेन त्साङ नगर से 12 या 13 ली दूर बुद्ध की एक और मूर्ति देखने गया। उसमें बुद्ध की निर्वाण मुद्रा अंकित की गई थी। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि उसकी लंबाई एक हज़ार फुट थी।

वामियान में बुद्ध की पूजा तो होती ही थी। साथ ही अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा होती थी। उनकी पूजा के समारोह श्वेन त्साङ ने स्वयं देखे। उन सब पूजाओं में उसे कहीं कोई कमी दिखाई नहीं पड़ी। वामियान में आने वाले व्यापारी शकुन विचार कर अपनी वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करते थे। शकुन प्रतिकूल होने पर वे देवताओं को संतुष्ट करने की चेष्टा करते थे। वामियान में दस संघाराम थे जिनमें एक हज़ार संन्यासी रहते थे। वे सब हीनयानी थे।

वामियान का राजा महामोक्ष परिषद् का आयोजन करता था। उस समय वह

अपना राजकोष, स्त्री-बच्चे तथा अपने शरीर तक को दान में दे देता था। उसके बाद उसके मंत्री और अन्य अधिकारी संन्यासियों से निवेदन कर उन सब चीजों को वापस ले लेते थे।

बुद्ध की लेटी हुई प्रतिमा को देखने के बाद श्वेन त्साङ 200 ली के लगभग दक्षिण-पश्चिम की ओर गया। वहाँ से पूर्व की ओर बढ़कर उसने बड़े-बड़े बर्फीले पहाड़ों को पार किया। आगे उसे एक छोटा-सा झरना मिला जिसका जल काँच के समान उज्जवल था। उसके आस-पास बहुत से छोटे-छोटे हरे-हरे वृक्ष थे। उनके बीच में एक विहार था। श्वेन त्साङ उस विहार में गया। इन सब चीजों को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ उसके बाद श्वेन त्साङ पूर्व की ओर चल पड़ा। आगे का रास्ता उसे एक बर्फीले पहाड़ के तंग रास्ते से पार करना पड़ा। उसने स्याहकोट को पार किया और कपिसा देश में जा पहुँचा।

कपिसा के उत्तर की ओर बर्फीले पहाड़ थे, शेष तीन ओर हिंदूकुश पर्वत फैला हुआ था। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि वहाँ तरह-तरह के अन्न और फल पैदा होते थे। वहाँ शेन नस्ल के घोड़े होते थे। यूकिन नामक एक सुगंधित वस्तु भी वहाँ मिलती थी। श्वेन त्साङ ने लोगों को अनेक प्रकार के व्यापार करते देखा। व्यापारी सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रयोग करते थे। कपिसा में अंतर्जातीय विवाह की प्रथा थी।

उस समय कपिसा में एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था। वह वीर और साहसी था। उसने अपने निकटवर्ती दस राज्यों पर अपना अधिकार कर लिया था। वह अपनी प्रजा का पालन-पोषण बहुत प्यार से करता था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। प्रतिवर्ष वह चाँदी की एक अठारह फुट ऊँची बुद्ध की प्रतिमा बनवाता था और महामोक्ष-परिषद् में उदार मन से गरीबों, विधवाओं और विधुरों को दान देता था। वह उन्हें भोजन भी करवाता था।

कपिसा में श्वेन त्साङ ने विभिन्न धर्मों का सहअस्तित्व देखा। वहाँ सौ बौद्ध विहार थे। उनमें छः हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। अधिकांश भिक्षु महायानी थे। स्तूप काफी ऊँचे-ऊँचे थे। उनमें बुद्ध के अवशेष रखे थे। वे स्तूप सुंदर बने हुए थे। उनमें समय-समय पर अनेक चमत्कार होते रहते थे। विहार भी काफी ऊँचे स्थानों पर बने थे। कपिसा में दस देव मंदिर भी थे। उनमें विभिन्न धर्मों का अनुसरण करने वाले लगभग एक हज़ार संन्यासी निवास करते थे। कुछ संन्यासी नंगे ही रहते थे। कुछ अपने शरीर पर भस्म लगाए रहते थे और कुछ हड्डियों की माला बनाकर सिर पर लपेटे रहते थे।

किसी समय चीन के दो राजकुमारों ने, जो कनिष्क के बंदी थे, कपिसा में एक विहार बनवाया था। उसमें श्वेन त्साङ पूरी बरसात-भर रहा और विश्राम किया। उसने प्रज्ञांकर के साथ अनेक विवादास्पद विषयों पर चर्चा की। कई अन्य विद्धानों से भी उसकी भेंट हुई। उनसे भी उसने काफी विचार-विमर्श किया तथा अपनी विद्वता से उन्हें प्रभावित किया। कपिसा के राजा ने भी श्वेन त्साङ के भाषणों को सुना था। वह भी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने श्वेन त्साङ को रेशमी काम वाले पाँच सुंदर वस्त्र भेंट किए। बरसात बीतने पर श्वेन त्साङ और प्रज्ञांकर एक-दूसरे से अलग हो गए। प्रज्ञांकर बलख वापस चला गया। श्वेन त्साङ अपनी आगे की यात्रा पर चल पड़ा।

कुछ समय बाद श्वेन त्साङ ने भारत के सीमांत प्रदेशों— लमगान और नगरहार (आधुनिक जलालाबाद अब पाकिस्तान में) में प्रवेश किया। वहाँ उसने वे सभी स्थान देखे जहाँ लगभग दो सौ वर्ष पहले फा हियान गया था। उनके अतिरिक्त उसने और भी स्थान देखे जो बुद्ध के जन्म से संबंधित थे।

श्वेन त्साङ हिद्दा भी गया। हिद्दा नगरहार के दक्षिण-पूर्व में 30 ली की दूरी पर एक कस्बा था। वहाँ उसने बुद्ध की एक आँख देखी थी जो आम के फल जैसी बड़ी थी। उसने बुद्ध के कई और अवशेष भी देखे थे। वे सब सुरक्षित ढंग से

रखे थे। उन्हें देखने के लिए दर्शकों को भेंट देनी पड़ती थी। यद्यपि भेंट की मात्रा अधिक थी तथापि अनगिनत यात्री खुशी से भेंट देते थे और उन अवशेषों के दर्शन किया करते थे। हिद्दा में श्वेन त्साङ ने एक अद्भुत स्तूप भी देखा था। वह बहुत ऊँचा और बड़ा तो नहीं था लेकिन बहुत छोटा भी नहीं था। यदि कोई मनुष्य उसे केवल एक उँगली से भी छू लेता था तो वह नीचे तक हिल जाता था और काँप उठता था। उसके घंटे और घंटियाँ बड़े मधुर स्वर में बजने लगते थे।

सीमांत प्रदेशों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राज्य गांधार था। उस की पूर्वी सीमा पर सिंधु नदी बहती थी। गांधार की राजधानी थी पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर)। प्राचीन काल में एक समय था जब वहाँ कनिष्क राज्य करता था। श्वेन त्साङ के गांधार पहुँचने के समय तक गांधार का पतन हो चुका था वह कपिसा के शासकों के अधीन हो गया था। स्थिति बड़ी खराब थी। नगर और गाँव उजड़ गए थे। कहीं-कहीं थोड़े से लोग बसे हुए थे। राजमहल ध्वस्त हो गया था। लेकिन अन्न और फल-फूल काफी थे। गन्ना भी बहुतायत से उगता था। बौद्ध धर्म के अनुयायी थोड़े से ही थे। अधिकतर लोग अन्य धर्मों में विश्वास करते थे।

श्वेन त्साङ ने लिखा है कि गांधार के निवासी साहित्य प्रेमी थे। उस देश में अनेक बड़े विद्वानों का जन्म हुआ था जैसे, नारायण देव, असंग बोधिसत्व, वसुबंधु बोधिसत्व, धर्मत्रात, मनोहृत, पार्श्व महात्मा आदि। श्वेन त्साङ ने गांधार राज्य के उन स्थानों का भ्रमण किया था जहाँ वसुबंधु बोधिसत्व ने **अभिधर्म कोश शास्त्र,** वसुमित्र शास्त्री ने **अभिधर्म प्रकर्ण शास्त्र** और धर्मत्रात शास्त्री ने **संयुक्ताभिधर्म-शास्त्र** की रचना की थी। वह महान व्याकरणाचार्य पाणिनी के जन्म स्थान पोलोटुलो (आधुनिक सलातुर अथवा सालातुरीय) भी गया था।

श्वेन त्साङ के समय गांधार में लगभग सौ संघाराम थे। वे सबके सब उजड़ी

और विकृत अवस्था में थे। उनमें जंगली घास और झाड़ियां उगी हुई थीं। वहाँ कोई आदमी भी नहीं रहता था। स्तूप भी अधिकतर भग्नावस्था में थे। बौद्ध संघरामों के अतिरिक्त लगभग सौ मंदिर थे। उनमें काफी साधु रहते थे।

गांधार नगर के बाहर 9-10 ली की दूरी पर श्वेन त्साङ ने एक पीपल का वृक्ष देखा था जो लगभग सौ फुट ऊँचा था। उसकी डालें मोटी थीं और उसकी छाया इतनी सघन थी कि दिन में भी उसके नीचे प्रकाश नहीं पहुँच पाता था। लोगों का विश्वास था कि बुद्ध ने उस पीपल की छाया में विश्राम किया था। श्वेन त्साङ ने वहाँ बुद्ध की चार मूर्तियों के दर्शन किए थे। पीपल के दक्षिण में कनिष्क ने एक बड़े स्तूप का निर्माण कराया था। उसमें बुद्ध का लगभग सोलह फुट ऊँचा एक रंगीन चित्र बना हुआ था। वहाँ से कुछ दूरी पर श्वेन त्साङ ने बुद्ध की अठारह फुट ऊँची सफेद पत्थर की एक प्रतिमा भी देखी थी। उससे वहाँ के निवासियों को अनेक चमत्कारी अनुभव हुए थे। श्वेन त्साङ ने कुछ ऐसे स्तूप भी देखे जिन्हें अशोक ने बनवाया था। उनमें से एक स्तूप सौ फुट ऊँचा था। वह लकड़ी और पत्थरों से बना हुआ था। उन पर विविध प्रकार की उच्च कोटि की नक्काशी की गई थी।

श्वेन त्साङ पुरुषपुर से 50 ली दूर उत्तर-पूर्व की ओर एक पहाड़ पर भी गया था। वहाँ उसने ईश्वरदेव की पत्नी भीमादेवी की हरे पत्थर पर खुदी मूर्ति के दर्शन किए थे। लोगों का कहना था कि वह मूर्ति स्वयं निर्मित हुई थी। उसमें से अनेक प्रकार के चमत्कार हुआ करते थे। इस कारण उस मूर्ति की बड़ी मान्यता थी। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि सभी श्रेणियों के लोग उसकी पूजा करते थे। भारत के समस्त प्रांतों के धनी और दरिद्र लोग वहाँ जाकर भीमादेवी की मूर्ति के दर्शन करते थे। प्रेम भाव से वे उसकी पूजा करते थे और अपने मनोरथों की पूर्ति के लिए प्रार्थना करते थे। श्वेन त्साङ के अनुसार उनकी प्रार्थना

सफल भी होती थी। पहाड़ के नीचे एक मंदिर महेश्वर देव का था। शैव लोग वहाँ जाते थे और निष्ठापूर्वक पूजा-पाठ किया करते थे।

भीमादेवी के मंदिर के दक्षिण-पूर्व में 150 ली की दूरी पर श्वेन त्साङ सिंधु नदी के तट पर स्थित ओहिंद नगर गया। उसने लिखा है कि वहाँ के निवासी धनी और सुखी थे। अनेक देशों से व्यापार की बहुमूल्य और अनेक प्रकार की वस्तुएँ वहाँ आती थीं।

ओहिंद नगर से उत्तर की ओर आगे चलकर श्वेन त्साङ ने कुछ पर्वत और नदियाँ पार की। करीब 600 ली की यात्रा करने के बाद उसने उद्यान प्रदेश में प्रवेश किया।

उद्यान पहाड़ और घाटियों का प्रदेश था। उसमें अन्न-फल आदि की उपज अच्छी नहीं थी। लेकिन अंगूर बहुत होता था। सुगंधित केसर की खेती सबसे अधिक होती थी। लोगों की भाषा अधिकतर भारतवर्ष की भाषा के ही समान थी। उद्यानवासी बौद्ध धर्म का आदर करते थे। उद्यान के बौद्ध महायान संप्रदाय के अनुयायी थे। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि "स्वात नदी के किनारे-किनारे चौदह सौ प्राचीन संघाराम थे। उनमें किसी जमाने में अठारह हज़ार संन्यासी रहते थे। परंतु श्वेन त्साङ के समय में सब संघाराम खंडित अवस्था में थे। उनमें बहुत थोड़े-से साधु रहते थे। साथ ही वहाँ दस हिंदू मंदिर थे। उनमें लोग निवास करते थे। सब लोग अपने-अपने धर्म का अनुसरण करते हुए शांतिपूर्वक रहते थे।"

उद्यान में श्वेन त्साङ के समय चार या पाँच बड़े-बड़े नगर थे। मुंगाली वहाँ की राजधानी थी। वह नगर स्वात नदी के बाएँ किनारे पर बसा था। प्राचीन काल में वहाँ शांति ऋषि निवास करते थे। उनका एक क्रोधी राजकुमार ने बड़ी बर्बरता से वध किया था। किंतु उन्होंने अपने मन की शांति भंग नहीं होने दी।

मुंगाली से लगभग 200 ली दूर महावन संघाराम था। श्वेन त्साङ के अनुसार

प्राचीन काल में सर्वदत्त नामक राजा शत्रु से पराजित होने पर अपना देश छोड़कर वहाँ रहने लगा था। एक दिन एक ब्राह्मण ने उससे भिक्षा माँगी। राजा के पास उसे देने को कुछ भी नहीं था। लेकिन वह ब्राह्मण को निराश नहीं करना चाहता था। अतः राजा ने उससे कहा कि वह उसे बांधकर उसके शत्रु के पास ले जाए। इससे उसे जो भी पारितोषिक मिले उसे वह दान समझ कर स्वीकार करे।

महावन संघाराम से 30-40 ली चलने के बाद श्वेन त्साङ मोसू संघाराम पहुँचा। मोसू संघाराम के पश्चिम में वह एक स्तूप देखने गया जिसे अशोक ने बनवाया था। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि प्राचीन काल में वहाँ राजा शिवि ने एक कबूतर की प्राण-रक्षा के लिए अपने शरीर के टुकड़े काट-काटकर एक बाज को खिला दिए थे।

मुंगाली नगर के पश्चिम में 50 ली दूर पर नदी पारकर श्वेन त्साङ रोहितक नामक स्तूप देखने गया था। वह स्तूप पचास फुट ऊँचा था। सम्राट अशोक ने उसका निर्माण कराया था। इसी स्तूप के पास प्राचीन काल में राजा मैत्रीबाल ने अपने शरीर के ताज़ा मांस और रक्त से पाँच भूखे यक्षों को भोजन कराया था।

मुंगाली से दक्षिण दिशा में भी श्वेन त्साङ ने भ्रमण किया था। मुंगाली से लगभग 400 ली दूर यात्रा के बाद वह हीलो पर्वत पर गया था। उसने देखा कि एक जलधारा उस पर्वत से निकलकर घाटी में पश्चिम की ओर बहकर फिर पूर्व की ओर पलट कर मुहाने की ओर चढ़ती थी। पर्वत के आस-पास तथा जलधारा के किनारे-किनारे अनेक प्रकार के फल और फूल लगे हुए थे। कहीं ऊँचे-ऊँचे कगार थे तो कहीं गहरी-गहरी गुफाएँ और कहीं घाटियों में इधर से उधर बहती हुई जलधाराएँ। कहीं-कहीं कभी-कभी श्वेन त्साङ को लोगों के बोलने के शब्दों और गान-वाद्यों की प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती थी। पर्वत से दूर घाटी तक फैले हुए चौकोर, लंबे, और पतले पत्थर आँखों को बड़े सुहावने लगते थे मानो उन्हें

किसी कलाकार ने तराश दिया था। इस सबसे श्वेन त्साङ को बड़ा आनंद और स्फूर्ति मिली थी। ऐसे वर्णनों से स्पष्ट है कि श्वेन त्साङ में बहुमुखी सर्वेक्षण क्षमता थी।

उद्यान राज्य के दर्शनीय स्थलों को देखने के बाद श्वेन त्साङ ने सिंधु नदी की ओर प्रस्थान किया। उसे अनेक पर्वतों और घाटियों को पार करना पड़ा। कहीं-कहीं रास्ता पथरीला और ढालू था। पहाड़ ऊँचे ओर घाटियाँ अंधकारमय थीं। कहीं रस्सियों और जंजीरों के सहारे चलना पड़ता था तो कहीं छोटे-छोटे पुलों और लटकते हुए झूलों का सहारा लेकर आगे बढ़ना पड़ता था। कई स्थानों पर ढालू कगार थे। उन पर चढ़ने के लिए लकड़ी की सीढ़ियों की सहायता लेनी पड़ती थी। इस प्रकार की बहुत-सी बाधाओं को पारकर श्वेन त्साङ सिंघु नदी के तट पर पहुँचा। उसके बाद एक बार फिर झूलों की सहायता से तथा लकड़ी के तख्तों पर चढ़कर जिन पर केवल पैर भर रखने की जगह थी, कगारों और खोहों को पार करते हुए लगभग 500 ली की यात्रा के बाद श्वेन त्साङ बोलर (आधुनिक वल्तिस्तान अथवा छोटा तिब्बत) पहुँचा।

बोलर में उस समय गेहूँ, अरहर, सोना और चाँदी का उत्पादन होता था। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि वहाँ की लिपि भारत की लिपि के समान थी परंतु भाषा भिन्न थी। वहाँ लगभग सौ संघाराम थे। उनमें एक हज़ार साधु रहते थे। उस देश से चलकर श्वेन त्साङ ने एक बार फिर सिंधु नदी पार की। उसका जल उत्तम और स्वच्छ था। वेग से चलते समय उसका जल काँच के समान चमकने लगता था। सिंधु नदी के किनारों की खोहों और दरारों में विषैले नाग और भयानक जंतु भरे पड़े थे। नदी पारकर श्वेन त्साङ तक्षशिला पहुँचा।

श्वेन त्साङ के अनुसार उसके तक्षशिला पहुँचने से पहले वह कपिसा के अधीन था। परंतु कुछ दिनों से कश्मीर के राजा ने उसे अपने अधिकार में ले लिया था।

वहाँ की धरती उपजाऊ थी। उसमें विविध प्रकार की फसलें अच्छी होती थीं। नदियाँ और सोते अनेक थे।

उस समय तक्षशिला में संघाराम तो बहुत थे परंतु वे उजड़े हुए थे और टूट-फूट रहे थे। वहाँ भिक्षु भी बहुत ही कम रहते थे। तक्षशिला से दक्षिण की ओर कुछ ली की दूरी पर अशोक का बनवाया हुआ सौ फुट ऊँचा एक स्तूप था। उस स्तूप को और उसके आस-पास की भूमि को लोग पवित्र मानते थे। श्वेन् त्साङ का कहना है कि वहाँ भूडोल का कभी कोई प्रभाव नहीं होता था। जब कभी भूडोल आने से आस-पास के पहाड़ हिलने लगते थे तब भी उस स्थान के चारों ओर सौ कदम तक पृथ्वी स्थिर रहती थी। यदि कोई व्यक्ति उस स्थान को खोदने का प्रयत्न करता था तो पृथ्वी हिलने लगती थी और वह व्यक्ति सिर के बल वहीं गिर पड़ता था।

तक्षशिला के उत्तर में भी अशोक ने एक स्तूप बनवाया था। धर्मोत्सव के दिन वह चमकने लगता था। उस पर पुष्पों की वर्षा होती थी तथा वहाँ अलौकिक नाद सुनाई देता था। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि प्राचीन काल में एक स्त्री भयानक कुष्ठ रोग से अत्यंत पीड़ित थी। एक दिन वह उस स्तूप के निकट गई। वहाँ उसने बड़े मन से पूजा की और भगवान बुद्ध से अपने पापों की क्षमा मांगी। अचानक उसने देखा कि उस स्तूप के एक खुले भाग में विष्टा ओर कूड़ा भरा हुआ था। उसने उस सबको उठाकर फैंक दिया, उस स्थान को जल से धोया और पोंछा लगाया। उसे साफ करने के बाद उसने वहाँ कमल के पुष्प चढ़ाए और कुछ अन्य सुगंधित वस्तुएँ वहाँ छिटक दी। इस सेवा का परिणाम यह हुआ कि उस स्त्री का वह दारुण कुष्ट दूर हो गया। उस का शरीर स्वस्थ और सुंदर हो गया तथा कमल के फूल की सुगंध की तरह महकने लगा। श्वेन त्साङ ने भी उस स्थान के वातावरण की सुगंधि का अनुभव किया था।

तक्षशिला राज्य के दक्षिण-पूर्व की ओर आगे चलकर श्वेन त्साङ ने कुछ पर्वत

और घाटियों को पार किया। उसके बाद वह सिंहपुर राज्य में पहुँचा। वह राज्य एक घाटी में बसा हुआ था। उसके पश्चिम में सिंधु नदी वहती थी। उसके चारों ओर चट्टानें और पहाड़ थे। सिंहपुर पर भी कश्मीर राज्य का अधिकार था।

सिंहपुर नगर के दक्षिण-पूर्व में 40-50 ली की दूरी पर श्वेन त्साङ अशोक द्वारा बनवाए दो सौ फुट ऊँचे पत्थर के एक स्तूप को देखने गया था। वहाँ उसने दस सरोवरों को देखा जो अंदर ही अंदर एक दूसरे से जुड़े हुए थे। उनके किनारे अद्भुत आकार के अनेक पत्थर बिछे हुए थे। उन सरोवरों का जल स्वच्छ था। उनमें कभी-कभी बड़ी तेज़ लहरें उठती थीं जिनसे विशेष प्रकार की ध्वनि होती थी। सरोवरों के किनारे गुफाओं और गड्ढ़ों में साँप और मछलियाँ रहती थीं। जल कमल के पत्तों और रंग-बिरंगे फूलों से ढका रहता था। सरोवरों के चारों ओर सैकड़ों प्रकार के फलदार वृक्ष लगे हुए थे। उनका सौंदर्य वर्णनातीत था। सरोवरों के जल में पड़ती हुई उनकी छाया बड़ी सुहावनी लगती थी।

उन सरोवरों के निकट एक संघाराम था जो एक दम खाली पड़ा था। स्तूप के निकट एक श्वेतांबर साधु को जैन धर्म के सिद्धांतों का ज्ञान हुआ था और उसने वहाँ सबसे पहले जैन धर्म का उपदेश दिया था। इस आशय का एक लेख श्वेन त्साङ ने वहाँ देखा था। उस स्थान के पास ही एक देव मंदिर भी था। इनके अतिरिक्त श्वेन त्साङ सिंहपुर के अन्य बौद्ध स्थानों पर भी गया। वहाँ उसने कई और स्तूप देखे। उनमें सुंदर-सुंदर मूर्तियाँ रखी थी।

इस तरह कुछ दिन तक सिंहपुर राज्य की यात्रा के बाद श्वेन त्साङ ने आगे बढ़कर कई पर्वतों, घाटियों और पुलों के पार किया। वहाँ से लगभग 2000 ली की कठिन यात्रा के बाद वह कश्मीर राज्य में पहुँचा।

कश्मीर के चारों ओर ऊँचे पहाड़ हैं। उनमें जो दर्रे हैं वे बहुत तंग हैं। श्वेन त्साङ के समय वहाँ काफी फल-फूल उगते थे। केसर और अनेक प्रकार की औषधियाँ वहाँ अच्छी मात्रा में पैदा होती थीं।

उस समय वहाँ के लोग सुशिक्षित और विद्या प्रेमी थे। उनमें से कुछ लोग बौद्ध धर्म को मानते थे तथा अन्य लोग अन्य धर्मों का अनुसरण करते थे। कश्मीर में लगभग सौ संघाराम थे। उनमें पाँच हज़ार संन्यासी निवास करते थे। सम्राट अशोक ने वहाँ चार स्तूप बनवाए थे। श्वेन त्साङ का कहना है कि उस समय बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार नहीं था। अन्य धर्मावलंबियों के मंदिरों की संख्या बढ़ रही थी।

कश्मीर पहुँचने से पहले ही श्वेन त्साङ की विद्वता का यश वहाँ फैल चुका था। वहाँ की राजमाता एवं राजा के अनुज ने स्वयं सीमा पर पहुँचकर श्वेन त्साङ का स्वागत किया। राजधानी पहुँचने पर राजा ने अपने राजमहल में उसका आतिथ्य किया। बौद्ध धर्म के गूढ़ सिद्धांतों के विवेचन के लिए एक सभा का आयोजन किया। राजा ने श्वेन त्साङ की सेवा के लिए पाँच सेवक नियुक्त किए और वांछित बौद्ध ग्रंथों की प्रतियाँ तैयार करने के लिए बीस लेखक नियुक्त किए। श्वेन त्साङ दो वर्षों (मई 631 ई. से अप्रैल 633) तक कश्मीर में रहा। वहाँ उसने बौद्ध दर्शन और बौद्ध धर्म की विविध शाखाओं का अध्ययन किया। साथ ही उसने अन्य विधाएँ भी सीखीं। उसने हेतु अथवा तर्कशास्त्र पढ़ा और समझा। श्वेन त्साङ के गुरु की उम्र उस समय सत्तर वर्ष थी। श्वेन त्साङ को पढाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था। मध्याह्न से पहले वह उसे कोष शास्त्र पढ़ाते थे। मध्याह्न के बाद न्याय-अनुसार शास्त्र और रात को वे उसे हेतु-विद्या-शास्त्र समझाते थे। इन विषयों की चर्चा में अन्य विद्धान भी भाग लिया करते थे। उनमें से लगभग छः अपने-अपने विषयों के महापंडित थे।

कश्मीर से श्वेन त्साङ ने जालंधर के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में वह पुंज, रजौरी, चेह-का (जिसकी एक समय राजधानी सियालकोट थी), चिनियारी (चीनाभुक्ति) और तामस वन भी गया। उस यात्रा में श्वेन त्साङ और उसके साथियों को कुछ नए अनुभव हुए। जब वे सियालकोट से आगे पलाश वन से गुजर रहे थे तब

उन्हें लुटेरों ने घेर लिया। उनका सारा सामान लूट लिया। जैसे-तैसे पड़ोसी गांव के निवासियों के हस्तक्षेप से उनकी जान बची। चीनाभुक्ति को जाने वाले मार्ग के निकट चेह-का राज्य में एक अमराई में एक उल्लेखनीय ब्राहमण से श्वेन त्साङ की भेंट हुई। उसे लोगों ने बताया कि उनकी आयु सात सौ वर्ष से भी अधिक थी। परंतु श्वेन त्साङ को आश्चर्य हुआ कि देखने में वे तीस वर्ष के युवक के समान दिखाई पड़ रहे थे। उन्हें वेदों का ज्ञान तो था ही, वे बौद्ध ग्रंथों के भी अच्छे ज्ञाता थे। श्वेन त्साङ ने उनके पास रहकर एक माह बिताया और उनकी सहायता से नागार्जुन के प्रसिद्ध शिष्य आर्यदेव के कुछ ग्रंथों का अध्ययन किया। चीनाभुक्ति में उसने चौदह माह बिताए। वहाँ एक विहार में रहकर उसने **अभिधर्म शास्त्र, अभिधर्म प्रकरण शासन शास्त्र** और **न्यायद्वार तर्क शास्त्र** का अध्ययन किया। इस अध्ययन में प्रख्यात विद्वान विनीत पुत्र ने श्वेन त्साङ की बड़ी सहायता की थी। विनीत पुत्र ने स्वयं **पंच स्कंध शास्त्र** और **विद्यामात्र सिद्धि त्रिदशाशास्त्र** की मीमांसाएँ लिखी थी। जालंधर में श्वेन त्साङ चार महीने तक रहा क्योंकि वहाँ पर उसका एक और बड़े विद्धान से परिचय हो गया। वह विद्वान चन्द्रवर्मा था। उसकी सहायता से श्वेन त्साङ ने **प्रकरण पाद विभाषा शास्त्र** का अध्ययन किया।

जालंधर से लगभग चार सौ मील की यात्रा के बाद श्वेन त्साङ राजस्थान में स्थित भैराट पहुँचा। वहाँ से वह पूर्व की ओर चलकर मथुरा पहुँचा। वहाँ उसने वे स्तूप देखे जिन्हें उससे पहले फा हियान ने भी देखा था। मथुरा के लोग कोमल स्वभाव के थे। वे धार्मिक ज्ञान में अधिक रुचि रखते थे। परोपकारियों और विद्वानों का आदर करते थे। मथुरा में उस समय कोई बीस संघाराम थे। उनमें हीनयान और महायान संप्रदायों के दो हज़ार संन्यासी रहते थे। पांच देव मंदिर थे जिनमें विविध प्रकार के साधु उपासना करते थे। वहाँ तीन स्तूप भी थे जो सम्राट अशोक ने बनवाए थे। कुछ स्तूप बुद्ध के साथियों जैसे श्री पुत्र,

मुदगल पुत्र, उपाली, आनंद, राहुल, मंजुश्री आदि के शरीरावशेषों पर स्मारक स्वरूप बनाए गए थे। श्वेन त्साङ ने उन सबको स्वयं जाकर देखा था। मथुरा से वह थानेश्वर गया।

आगे चलकर श्वेन त्साङ ने पवित्र यमुना और गंगा नदियाँ पार की। रास्ते में कुछ विद्वानों की सहायता से विभाषा आदि ग्रंथों का अध्ययन करता हुआ वह मतिपुर (आधुनिक मडावर, जिला-बिजनौर, उ॰ प्र॰) पहुँचा।

मतिपुर में श्वेन त्साङ वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य से बहुत प्रभावित हुआ। वहाँ के लोग उसे धर्मनिष्ठ और सत्यपरायण लगे। वे लोग विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। तंत्र-मंत्र में उनका अधिक विश्वास था। मतिपुर राज्य में बीस संघाराम थे जिनमें आठ सौ भिक्षु रहते थे। लगभग पचास देव मंदिर थे। उनमें अनेक धर्मों के लोग मिल-जुल कर रहते थे और पूजा-पाठ करते थे। मतिपुर में श्वेन त्साङ ने गुणप्रभ, संघभद्र शास्त्री, विमल मित्र शास्त्री जैसे महान विद्वानों के स्मारक देखे।

मतिपुर से श्वेन त्साङ मायापुर (आधुनिक हरिद्वार) भी गया। मायापुर के चारों ओर उसने पवित्र गंगाजल प्रवाहित होता देखा। नगर के समीप गंगा तट पर एक बड़ा मंदिर था। वहाँ नाना प्रकार के अद्भुत चमत्कार दिखाई देते थे। उस के बीच में एक सरोवर था। उसके किनारे पत्थरों को जोड़कर बड़ी निपुणता से बनाए गए थे। उसमें गंगाजल एक बनावटी नहर द्वारा ले जाया जाता था। लोग उसे गंगाद्वार के नाम से पुकारते थे। वहाँ लोग अपने पापों से मुक्ति पाते थे और पुण्य अर्जन करते थे। भारत के विभिन्न भागों से आकर असंख्य भक्तगण प्रतिदिन वहाँ स्नान करते थे। अनेक उदार राजाओं ने वहाँ पुण्यशालाएँ बनवा दी थीं। उन पुण्यशालाओं से विधवा स्त्री-पुरुषों, अनाथों और दुखियों को आवश्यक भोजन और औषधियाँ निःशुल्क दी जाती थी।

हरिद्वार से श्वेन त्साङ ब्रह्मपुर (आधुनिक कुमायूँ गढ़वाल) पहुँचा। उसने देखा कि वहाँ के निवासी धनाढय थे। वे साहसी थे, परन्तु सुसंस्कृत नहीं थे। बुद्ध के अनुयायी और अन्य धर्मावलंबी मिल-जुलकर रहते थे। पाँच संघाराम थे जिनमें थोड़े से भिक्षु रहते थे। दस देव मंदिर थे। वहाँ विभिन्न धर्मों के लोग साथ-साथ पूजा-पाठ करते थे। ब्रह्मपुर में स्त्रियों का राज्य था। वहाँ की रानी का पति राजा कहलाता था। लेकिन राजकीय कार्यों से उसका कोई संबंध नहीं था। पुरुषों का काम केवल लड़ना और खेती-बाड़ी करना था। शेष काम स्त्रियाँ ही सम्हालती थीं। संपूर्ण राज्य में यही व्यवस्था थी।

ब्रह्मपुर से चलकर श्वेन त्साङ गोविशन (काशीपुर में उजेन गाँव के निकट), अहिक्षेत्र (रूहेलखण्ड की राजधानी), वीरासन (एटा में अतरंजीखेड़ा) और कपिथ (संकिस) गया। इन सभी स्थानों पर उसने सांप्रदायिक सद्भाव देखा। बौद्ध और अन्य धर्मवाले सब साथ-साथ मिल-जुलकर रहते थे। धर्मस्थलों में पूजा-पाठ में कोई भेद-भाव नहीं था।

आगे चलकर श्वेन त्साङ कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) पहुँचा। कान्यकुब्ज को कुबड़ी कन्याओं का प्रदेश भी कहा जाता था। प्राचीन काल में एक महर्षि ने राजा कुशनाग की सौ कन्याओं में से निन्यानवै को कुबड़ी हो जाने का श्राप दे दिया था क्योंकि उन्होंने उनसे विवाह करने से इंकार कर दिया था। वहाँ श्वेन त्साङ ने देखा कि मनोहर फल-फूलों से भरे हुए वन, उपवन और शीशे की तरह स्वच्छ जल वाले जलाशय और झीलें जगह-जगह बनी हुई थीं। व्यापारियों के पास बहुमूल्य वस्तुएँ बहुलता से उपलब्ध थीं। कन्नौज के निवासी सुखी और संतुष्ट थे। उनके घर सुंदर और समृद्ध थे। लोग भले थे। विद्या और धार्मिक चर्चा में विशेष रुचि रखते थे। कन्नौज में कई सौ संघाराम थे। उनमें दस हज़ार भिक्षु रहते थे। दो सौ देव मंदिर थे। उनमें हजारों हिंदू उपासना करते थे।

कन्नौज के दक्षिण की ओर गंगा के किनारे तीन संघाराम थे। वे एक ही अहाते में थे यद्यपि तीनों के फाटक अलग-अलग थे। उनमें बुद्ध की सुंदर सुसज्जित मूर्तियाँ स्थापित थीं। संघाराम के भीतर एक सुंदर डिब्बे में बुद्ध का एक दाँत रखा हुआ था। वह लगभग डेढ़ इंच लंबा और चमकीला था। हज़ारों छोटे-बड़े आदमी प्रतिदिन बिना भेद-भाव के वहाँ जाते थे और उपासना करते थे। भीड़ को कम करने के लिए दर्शकों पर एक स्वर्ण मुद्रा का कर लगा दिया था, तो भी दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी। लोग दर्शन के लिए प्रसन्नता से स्वर्णमुद्रा दे देते थे। प्रत्येक व्रतोत्सव के दिन वह दाँत बाहर निकाला जाता था। श्रद्धालु उसकी उपासना करते थे। असंख्य सुगंधित फूल चढ़ाते थे। फूलों के ढेर लग जाते थे। परंतु दाँतवाला डिब्बा फूलों से कभी नहीं ढकता था।

श्वेन त्साङ ने संघाराम के आगे दाईं और बाईं ओर सौ-सौ फुट ऊँचे दो विहार बने देखे। उनकी नींव पत्थर की बनी थी और दीवारें ईंटों की। उनके बीच में बुद्ध की सुसज्जित मूर्तियाँ एक सोने और चाँदी की और दूसरी ताँबे की बनी हुई थी।

श्वेन त्साङ वहाँ से निकट ही एक सूर्य मंदिर और एक महेश्वर देव मंदिर भी देखने गया। दोनों मंदिर बहुमूल्य नीले पत्थर से बनाए गए थे। उनमें बहुत ही सुंदर मूर्तियाँ स्थापित थीं। उन मंदिरों में हज़ारों सेवक थे। वहाँ रात-दिन नगाड़े बजते रहते थे और भजन होते रहते थे।

गंगा के दक्षिणी तट पर अशोक का बनवाया हुआ एक दो सौ फुट ऊँचा स्तूप था। मान्यता थी कि उस स्थान पर बुद्ध ने छः महीनों तक अनात्मा, दुःख, नश्वरता आदि पर व्याख्यान दिए थे।

कन्नौज से चलकर श्वेन त्साङ अयोध्या पहुँचा। वहाँ उसने कई स्तूप और संघाराम देखे। वह उन स्थानों पर भी गया जहाँ प्राचीन समय में वसुबंधु और असंग बोधिसत्वों ने अध्ययन-अध्यापन किया था।

अयोध्या से वह प्रयाग गया। प्रयाग के लिए वह एक नाव में बैठकर गया था। उस नाव को लुटेरों ने घेर लिया। वे दुर्गा के उपासक थे। अतः उन्होंने श्वेन त्साङ की बलि देने का निर्णय किया। श्वेन त्साङ और उसके साथी यात्रियों ने उनसे प्राण-दान के लिए बहुत कुछ निवेदन किया। परंतु वे उसे छोड़ने के लिए तैयार न थे। अचानक बादल घिर आए। भयंकर तूफान चलने लगा। लुटेरे डर गए। उनके हाथ-पैर फूल गए। घबराकर उन्होंने श्वेन त्साङ को मुक्त कर दिया और उसका सबकुछ वापस कर दिया।

प्रयाग में उसने दो संघाराम देखे। साथ ही वहाँ कई देव मंदिर भी थे। नगर के अंदर एक देव मंदिर बहुत ही सुसज्जित, सुंदर और अद्‌भुत चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध था। उस मंदिर के सभा-मंडप के सामने एक बड़ा भारी वृक्ष था। उसकी पत्तेदार टहनियाँ दूर-दूर तक फैली थी। उनसे खूब सघन छाया रहती थी। उस मंदिर के दाएँ और बाएँ मानव-अस्थियों के ढेर लगे थे। श्वेन त्साङ संगम पर भी गया। वहाँ उसने लोगों को अनेक प्रकार के योगाभ्यास, तपस्या तथा स्नान करते देखा।

प्रयाग से श्वेन त्साङ कौशांवी गया। रास्ते में उसे एक घने जंगल से जाना पड़ा। वह जंगल हाथियों एवं अन्य जंगली पशुओं से भरा पड़ा था। श्वेन त्साङ ने बड़े धैर्य और सावधानी से उस जंगल को पार किया और सकुशल कौशांवी पहुँच गया।

कौशांवी में श्वेन त्साङ ने बुद्ध की एक प्रतिमा देखी। एक कलाकार ने उसे चंदन की लकड़ी से बनाया था। उस मूर्ति से समय-समय पर प्रकाश निकलता था। अनेक देशों के राजाओं ने उसे बलपूर्वक अपने राज्यों में ले जाने का प्रयत्न किया था। किंतु किसी को सफलता नहीं मिली। कौशांवी में रहकर श्वेन त्साङ ने कई स्तूप भी देखे जो बुद्ध के अवशेषों और धर्मपाल के जीवन से संबंधित थे।

कौशांवी से श्वेन त्साङ श्रावस्ती, कपिलवस्तु, रामग्राम, कुशीनगर, वाराणसी, गाज़ीपुर (प्राचीन गर्जपुर) और वैशाली गया। ये सभी स्थान बुद्ध के जीवन से

किसी न किसी रूप में जुड़े हुए थे। बौद्ध धर्म के मानने वालों के लिए उनका विशेष महत्त्व था। श्वेन त्साङ उन सभी स्थानों पर गया था जहाँ फा हियान गया था। श्वेन त्साङ के समय उन स्थानों में से अधिकतर उजड़ चुके थे। कहीं-कहीं केवल अवशेष बाकी थे।

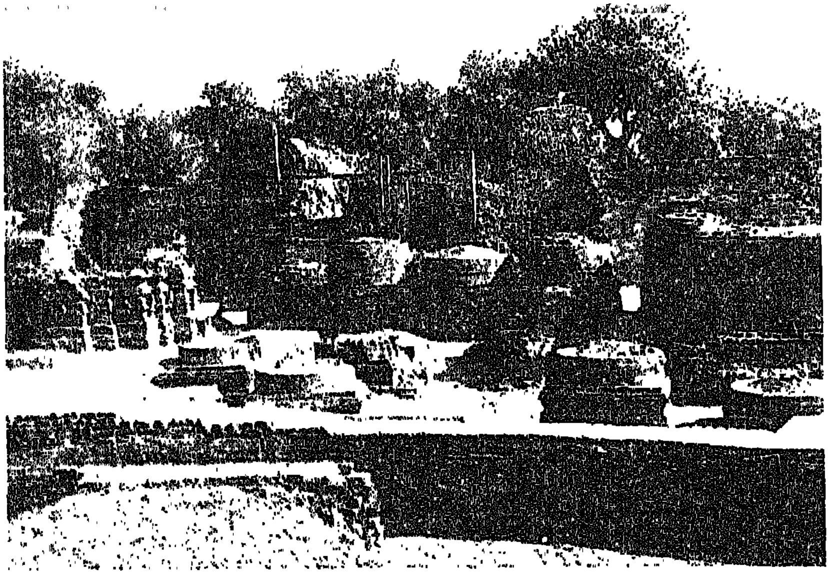
वाराणसी उस समय भी एक सजीव नगर था। उसके पश्चिम में गंगा बहती थी। वह आज भी वहीं बहती है। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि नगर के भीतर अनेक द्वार कंघी के दाँतों के समान बने थे। आबादी घनी थी। निवासी धनवान थे। उनके घरों में बहुमूल्य वस्तुएँ भरी पड़ी थीं। लोग विद्याव्यसनी और सभ्य आचार वाले थे। आस-पास घने जंगल थे। उनमें फूल और फलदार वृक्ष लगे थे।

वाराणसी प्रदेश में लगभग तीस संघाराम थे। उनमें तीन हज़ार हीनयानी संन्यासी रहते थे। लगभग सौ देव मंदिर थे। उनमें श्वेन त्साङ के अनुसार दस हज़ार उपासक महेश्वर देव की आराधना करते थे। कुछ लोग अपने सिर के बाल कटवा देते थे और कुछ बालों को बाँधकर जटा बनाते थे। कुछ लोग कोई भी वस्त्र धारण नहीं करते थे वे अपने शरीर पर भस्म का लेप कर लेते थे। वे लोग बड़े तपस्वी होते थे· कठिन से कठिन साधनों द्वारा वे जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न करते थे।

राजधानी में बीस देव मंदिर थे। उनके मंडप और कमरे पत्थर और लकड़ी से बनाए गए थे। उन पर सुंदर चित्रकारी की गई थी। मंदिरों के आस-पास वृक्षों की सघन छाया रहती थी। उनके चारों ओर पवित्र एवं शीतल जल की एक नहर बहती थी। महेश्वर देव की मूर्ति सौ फुट से कुछ कम ऊँची ताँबे की बनी हुई थी। उसकी आकृति गंभीर और प्रभावशाली थी। देखने में वह सजीव लगती थी।

ऐसा माना जाता था कि वाराणसी में बुद्ध के जन्म-जन्मांतरों की अनेक घटनाएँ घटित हुई थीं। बुद्ध वहाँ शाक्य राजकुमार के रूप में तो गए ही थे

उन्होंने वहाँ अपने पूर्व जन्मों में एक हिरन, पंछी, तथा छः दाँतों वाले हाथी के रूप में भी जन्म लिया था। श्वेन त्साङ ने उनसे संबंधित कई स्मारक–स्तूप, प्रतिमाएँ आदि देखीं।



मुख्य बौद्ध विहार, मृगदाव

वाराणसी के पूर्वोत्तर में बरना नदी के पश्चिमी तट पर अशोक द्वारा बनवाया हुआ एक सौ फुट ऊँचा स्तूप था। श्वेन त्साङ ने वह देखा था। स्तूप के सामने पत्थर का एक स्तंभ बना था। वह शीशे की तरह चमकता था।

बरना नदी से पूर्वोत्तर की ओर कोई दस ली की दूरी पर मृगदाव अथवा मृगवाटिका नामक एक संघाराम था। वह सारनाथ या सारंगनाथ (मृगों का राजा) भी कहलाता था। श्वेन त्साङ वहाँ भी गया। सारनाथ में बुद्ध ने सबसे पहले अपने पाँच

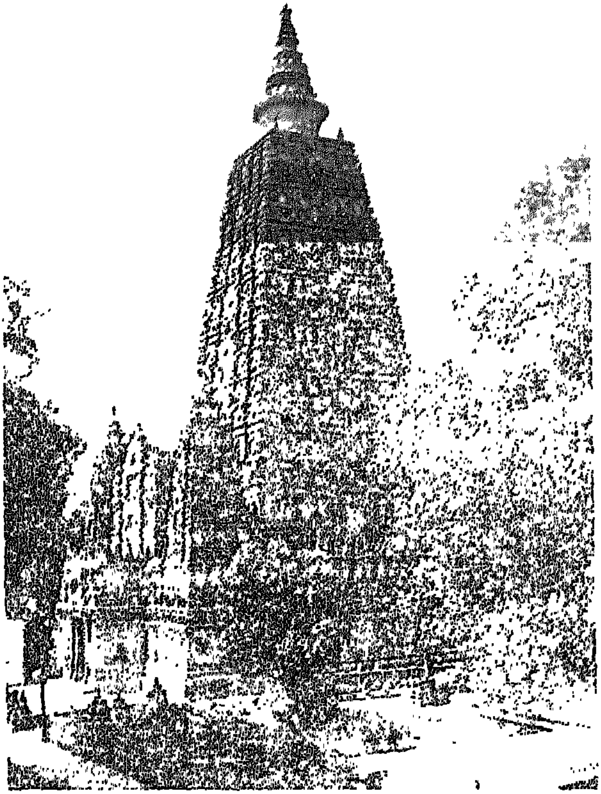
शिष्यों को धर्मोपदेश दिया था। संघाराम के ऊपरी खंड के मंडप, छज्जे और बरामदे बहुत ही मनोहर थे। उस संघाराम में करीब पंद्रह सौ संन्यासी रहते थे।

सारनाथ में एक और संघाराम था। वह दो सौ फुट ऊँचा था। उसकी छत पर सोने से मढ़ा हुआ एक आम्रफल का चित्र था। उसके चारों ओर लगभग सौ आले बने हुए थे। उनमें से प्रत्येक में बुद्ध की एक-एक सोने की मूर्ति रखी हुई थी। संघाराम के बीच में बुद्ध ही की मनुष्य की ऊँचाई के बराबर ताँबे की बनी हुई एक और मूर्ति थी। निकट ही अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप था।

वाराणसी से श्वेन त्साङ गाज़ीपुर पहुँचा। गाज़ीपुर के बारे में उसने लिखा है कि वहाँ के सब निवासी ब्राह्मण थे। उनका बौद्ध धर्म से कोई प्रेम नहीं था। लेकिन वे विद्वान बौद्ध भिक्षुओं का बहुत आदर करते थे।

गाज़ीपुर से वैशाली, वृज्जी और नौपाल होकर श्वेन त्साङ मगध राज्य में पहुँचा। वहाँ वह पाटलिपुत्र गया। वह उस समय मगध की राजधानी थी। वहाँ उसने कुक्कुटराम विहार के अवशेष देखे। भवन खँडहर हो गया था। लेकिन उसकी दीवारें खड़ी हुई थीं। सम्राट अशोक ने उसका निर्माण तब कराया था जब उसे पहली बार बौद्ध धर्म पर विश्वास हुआ था। पाटलिपुत्र के अन्य दर्शनीय स्थानों का भी उसने भ्रमण किया।

पाटलिपुत्र से श्वेनत्साङ तिलडक बौद्ध विहार पहुँचा। वहाँ अनेक विद्वान बौद्ध भिक्षु रहते थे। उनसे विचार-विमर्श करने के बाद वह दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ गया। रास्ते में उसे नीले-काले पत्थर के पहाड़ मिले। उनके चारों ओर घने वन थे। उनकी छाया से मार्ग अंधकारमय हो जाता था। उन पहाड़ों पर ऋषियों का निवास था। विषैले साँप भी वहाँ रहते थे। उनकी अगणित बाँवियाँ थीं। जंगली पशु और हिंसक पक्षी भी उन वनों में विचरण करते थे। कई बार वे यात्रियों पर झपट भी पड़ते थे। उन सबको पार करता हुआ और कई अन्य विहारों को देखता हुआ वह अपने अगले गंतव्य गयानगर (बोधगया) में पहुँचा।



महाबोधि मंदिर और बोधिवृक्ष, गया

गयानगर में उस समय थोड़े से ही निवासी थे। लगभग एक हज़ार ब्राह्मणों के परिवार रहते थे। लोग उनका आदर करते थे। गयानगर में श्वेन त्साङ ने बोधिवृक्ष देखा था। उसके नीचे बुद्ध को महाज्ञान प्राप्त हुआ था। इसीलिए उस वृक्ष को 'सम्यक् संबोधि वृक्ष' भी कहते थे। उसकी छाल का रंग कुछ पीलापन लिए सफेद था। पत्तों का रंग काही के रंग जैसा था। पत्ते कभी नहीं झड़ते थे।



महाबोधि मंदिर के अंदर बुद्ध की प्रतिमा

केवल बुद्ध के निर्वाण के समय वे थोड़ी देर के लिए गिर जाते थे और फिर एक दम वह वृक्ष पत्तों से ढक जाता था। उसके पत्ते सदैव विकारमुक्त, चमकीले और सुहावने बने रहते थे। भक्तजन बड़ी श्रद्धा से उसकी पूजा करते थे। समस्त जंबूद्वीप के राजा, महाराजा और बड़े-बड़े लोगों ने बोधिवृक्ष के चारों ओर ऊँची-ऊँची चहारदीवार बनवा दी थी। अनेक स्मारक भी बनवाए थे। विरोधी राजाओं ने ईर्ष्या और अविश्वास के कारण बोधिवृक्ष को अनेक बार कटवा दिया। लेकिन वह फिर बढ़ जाता था। जिस समय श्वेन त्साङ वहाँ पहुँचा था उस समय उस वृक्ष की ऊँचाई चालीस-पचास फुट थी। श्वेन त्साङ ने बोधिवृक्ष के आस-पास जितने भी पवित्र स्थान थे सबके सब देखे थे। वहाँ उसने बड़ी श्रद्धा से भ्रमण किया था। उन स्थानों में बैठकर उसने समय-समय पर विश्राम किया था और बुद्ध का स्मरण कर उनकी उपासना की थी। उसने बोधिवृक्ष की भी पूजा की थी। इससे उसे बड़ा संतोष मिला था। गयानगर में उसने नौ दिन पूजा-पाठ में बिताए। उसके बाद वह नालंदा की ओर प्रस्थान कर गया।


मंजूश्री

रास्ते में श्वेन त्साङ ने अनेक मनोरम पहाड़, घाटियाँ, वन और गुफाएँ देखीं। उनमें विचरण किया और आगे बढ़ता गया। कुछ समय बाद उसने माही नदी के पूर्व में एक बड़े सघन वन में प्रवेश किया और लगभग 100 ली चलकर वह कुक्कुटपादगिरी अथवा गुरुपादगिरि पहुँचा। उस पहाड़ के किनारे बहुत ऊँचे थे और रास्ता बड़ा दुर्गम। उसके पास जलधारा बड़े वेग से बहती थी। घाटियों में बड़े डरावने वन थे। श्वेन त्साङ यष्टिवन और



मैत्रेय (बोधगया संग्रहालय)

तप्तकुण्ड गया। कुण्ड का जल बहुत गरम था। आगे जाकर वह एक निर्जन पहाड़ पर पहुँचा। वहाँ उसने एक गुफा देखी जिसमें एक हज़ार व्यक्ति आराम से बैठ सकते थे। इसके ऊपरी भाग से सुगंधि निकलती रहती थी।

नालंदा बौद्ध विहार में श्वेन त्साङ के आगमन की पहले से ही प्रतीक्षा हो रही थी। वहाँ के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र को उसका आभास हो गया था। ऐसा उल्लेख है कि शीलभद्र बीस वर्षों से उदरशूल से पीड़ित थे। श्वेन त्साङ के नालंदा आगमन से तीन वर्ष पहले से उनकी पीड़ा असह्य हो गई थी। वह अपने जीवन से दुखी हो गए थे। अतः उन्होंने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया था। तभी एक रात उन्हें स्वप्न में तीन बोधिसत्वों–मंजूश्री, मैत्रेय, और अवलोकितेश्वर के दर्शन हुए। मंजूश्री ने उन्हें ऐसा न करने का उपदेश दिया। उन्होंने शीलभद्र को कष्ट सहकर अपना कर्त्तव्य निभाते रहने का आदेश दिया था। विशेषरूप से बोधिसत्व ने उन्हें समझाया था कि वे एक चीनी साधु को उसके वांछित अध्ययन में यथोचित सहायता करें। शीलभद्र ने वैसा ही करने का उन्हें वचन दे दिया। उसी क्षण से उनका कष्ट समाप्त हो गया।

इस प्रकार नालंदा के चार प्रमुख भिक्षुओं ने श्वेन त्साङ की अगवानी की। मोदगलायन ग्राम में पहुँचने पर दो सौ भिक्षु और अन्य व्यक्ति उसके साथ हो लिए। नालंदा विहार में पहुँचने पर शंखध्वनि द्वारा श्वेन त्साङ के विहार प्रवेश की सबको सूचना दे दी गई। सबने मिलकर उसका हार्दिक स्वागत किया। शीलभद्र

के पास पहुँचने पर श्वेन त्साङ ने उन्हें सादर सस्नेह प्रणाम किया। उनके चरण चूमे। उनसे मिलकर वह गदगद हो गया। उसके नेत्रों से खुशी के आँसू बहने लगे। शीलभद्र ने उसे उठाकर अपने गले लगाया। उससे उसका कुशल क्षेम पूछा। तब श्वेन त्साङ ने उन्हें बताया कि वह चीन से यहाँ योग शास्त्र के सिद्धांतों का अध्ययन करने के लिए आया था।

शिष्टाचार के उपरांत श्वेन त्साङ को बालादित्य राजा महाविद्यालय में चौथी मंजिल पर बुद्धभद्र के साथ ठहराया गया। बुद्धभद्र शीलभद्र का भतीजा एवं शिष्य था। उसके पास एक सप्ताह बिताने के बाद श्वेन त्साङ को एक दूसरे निवास स्थान पर ठहरा दिया गया। वह स्थान बौद्ध भिक्षु धर्मपाल के निवास के निकट था।

नालंदा-निवास के समय श्वेन त्साङ को प्रतिदिन 120 जंबीरस, 20 जायफल, 1 आउंस कपूर और कुछ महाशालि चावल दिया जाता था। महाशालि चावल केवल राजाओं और महत्त्वपूर्ण धर्म-ऋषियों को ही दिया जाता था। इसके अतिरिक्त श्वेन त्साङ को तेल, घी, मक्खन और अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी दी जाती थीं। उसकी सेवा के लिए एक उपासक और एक ब्राह्मण नियुक्त किया गया था। सवारी के लिए उसे एक हाथी भी दिया गया था। नालंदा में उस समय अनेक ऐसे विद्वान रहते थे जिन्हें इस प्रकार का सम्मान दिया जाता था।

नालंदा से श्वेन त्साङ कुशगारपुर या राजगृह या गिरिव्रज गया। वहाँ श्वेन त्साङ ने बुद्ध के जीवन से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण स्थान कलंद वेणुवन, गृध्रकूट आदि देखे। इससे उसे बड़ा सुख मिला। उसके बाद वह नालंदा वापस चला गया।

नालंदा में श्वेन त्साङ ने **योगशास्त्र, न्यायानुसार-शास्त्र, प्रज्ञानमूल-शास्त्र-टीका, शब्द-विद्या** और **हेतु-विद्या** का अध्ययन किया। संस्कृत में उसकी विशेष रुचि थी।

वह पाणिनी के व्याकरण शास्त्र से परिचित था। कोष, विभाषा, सत्पदाभिधर्म का उसने पहले ही कश्मीर में अध्ययन किया था। नालंदा में रहकर उसने उन विषयों से संबंधित समस्याओं एवं शंकाओं का विद्वानों की सहायता से समाधान किया। उसने बौद्ध धर्म के अनेक ग्रंथों का तो अध्ययन किया ही साथ ही हिंदू धर्म के ब्राह्मण ग्रंथों का भी अध्ययन किया।

नालंदा से श्वेन त्साङ ने हिरण्य पर्वत की यात्रा की। वह पर्वत आधुनिक मुंगेर जिले में स्थित है। इसका बुद्ध के जीवन से संबंध था। मान्यता थी कि उस पर्वत पर बुद्ध के जलपात्र का अवशेष था। उस प्रदेश में श्वेन त्साङ एक वर्ष तक रहा। वहाँ उसने तथागतगुप्त एवं शान्ति सिंह जैसे विख्यात विद्वानों की सहायता से **विभाषा** तथा **न्यायानुसार-शास्त्र** का अध्ययन किया।

मुंगेर से श्वेन त्साङ चंपा गया। वहाँ से कजंगल होकर वह पुंडरवर्धन, कर्णसुवर्ण, समतट और ताम्रलिप्ति गया। सातवीं शताब्दी के इन प्रदेशों को आजकल बंगाल कहा जाता है। ताम्रलिप्ति से श्वेन त्साङ कांचीपुर गया। कांचीपुर उस समय द्राविड़ प्रदेश की राजधानी थी। वहाँ पहुँचने से पहले उसने उड़ीसा, गंजम, कलिंग, दक्षिण कौशल, आंध्रा, धनकटक (आधुनिक विजयवाड़ा) और चोल प्रदेश की यात्रा की।

दक्षिण कौशल में श्वेन त्साङ ने एक माह से अधिक समय बिताया। वहाँ उसने एक ब्राह्मण विद्वान के साथ कार्य किया। धनकटक में महासंघिक ग्रंथों का अध्ययन किया। वहाँ कई महीने रहकर उसने इस कार्य के लिए दो विद्वानों—सुभूति तथा सूर्य की सहायता ली। कांचीपुर में धर्मपाल की जन्मभूमि थी। धर्मपाल नालंदा में शीलभद्र के गुरु रह चुके थे। धर्मपाल के पास अनेक विद्वान लंका से आए हुए थे। उनसे श्वेन त्साङ की भेंट हुई। परंतु वह लंका के विद्वानों की विद्वता से प्रभावित नहीं हुआ।

श्वेन त्साङ स्वयं पांडय राज्य में नहीं गया। दक्षिण पठार का पार करता हुआ

वह कोंकणपुर पहुँचा। वहाँ से वह महाराष्ट्र की ओर गया। उसके वर्णन से ऐसा अनुमान होता है कि संभवतः वह अजंता की विश्वप्रसिद्ध गुफाओं तक भी गया। वहाँ के भित्ति चित्रों को उसने देखा।

उसके बाद उसने नर्मदा पार की और भड़ौच पहुँचा। भड़ौच एक प्राचीन बंदरगाह था। वहाँ के निवासी समुद्र से अपनी जीविका अर्जन करते थे। वहाँ की भूमि में नमक अधिक था। वृक्ष और झाडियाँ बहुत कम थीं। लोग समुद्र के पानी को आग पर उबालकर नमक बनाते थे।

भड़ौच के उत्तर-पश्चिम में मालव प्रदेश था। वहाँ के निवासी धार्मिक और जिज्ञासु थे। वे बुद्धिमत्ता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उनकी भाषा सरल और सरस थी। मालव में अनेक विद्वान रहते थे। विद्वानों का वहाँ के निवासी बड़ा आदर करते थे। श्वेन त्साङ ने मालव का भ्रमण किया। उसने देखा कि वहाँ की भूमि उत्तम ओर उपजाऊ थी। फसलें अच्छी होती थीं। झाड़ियाँ और वृक्ष बहुत थे और हरे-भरे थे। फूल और फल बहुलता से होते थे। लोग पूरी और सत्तू बहुत खाते थे। मालव में सैंकड़ों संघाराम और देवमंदिर थे। लोगों में धार्मिक सद्भाव था।

मालव से श्वेन त्साङ वलभी पहुँचा। रास्ते में वह अटाली और कच्छ भी गया। वलभी की आबादी घनी थी। लोग धनी और सुखी थे। लगभग सौ परिवारों के पास तो एक करोड़ से भी अधिक धन था। दुर्लभ और बहुमूल्य विदेशी वस्तुएँ वहाँ पर उपलब्ध थीं।

वलभी से आगे बढ़कर श्वेन त्साङ सौराष्ट्र और गुर्जर पहुँचा। गुर्जर से वह उज्जैन गया। उज्जैन से नर्मदा पर स्थित महेश्वरपुर होता हुआ बीहड़ रेगिस्तान और भयंकर मार्गों को पारकर वह सिंध पहुँचा। सिंध में गेहूँ, बाजरा, सोना, चाँदी और ताँबा बहुत होता था। बैल, भेड़, ऊँट, खच्चर आदि पशु पाले जाते थे। ऊँट छोटे-छोटे और एक ही कूबड़ वाले होते थे। वहाँ लाल रंग का नमक बहुत होता

था। इसके अतिरिक्त सफेद, काला और चट्टानी नमक भी होता था। वह नम देश-विदेशों में दवा के काम आता था। सिंध के लोग लड़ाई-झगड़े बहुत करते थे

सिंध से श्वेन त्साङ ने मूलस्थानपुर अथवा मुलतान की यात्रा की। वहाँ उस सूर्य मंदिर देखा। वह मंदिर अत्यंत वैभवपूर्ण था। सूर्य देव की मूर्ति सोने की ब थी। वह दुर्लभ और बहुमूल्य रत्नों से सजाई गई थी। मंदिर में स्त्रियाँ गाती-बजाती थीं। वे ही दीपक जलाती थीं और सुगंधित पुष्प, धूप आदि से पू करती थीं। यह प्रथा काफी पहले से चली आ रही थी। कई हज़ार भक्तज प्रतिदिन उस मंदिर में पूजा करने तथा उसको देखने के लिए मुलतान जाया कर थे। अनेक राजा और बड़े लोग वहाँ जाकर रत्नादि बहुमूल्य पदार्थ भेंट चढ़ाते थे वहाँ एक पुण्यशाला भी थी जहाँ से रोगियों और दरिद्रों को खाना-पीना ए आवश्यक औषधियाँ दी जाती थीं। मंदिर के चारों ओर सुंदर सरोवर अ वाटिकाएँ बनी हुई थीं। उनमें मन को लुभाने वाले फूल खिलते रहते थे। के भी व्यक्ति बिना रोकटोक के वहाँ घूम सकता था।

मुलतान से श्वेन त्साङ पर्वत गया। वहाँ वह दो वर्ष तक रहा। उस अवधि उसने अनेक शास्त्रों (**मूलाभिधर्म-शास्त्र, सद्धर्म-संपरिग्रह-शास्त्र,** और **परीक्षा-स शास्त्र**) का अध्ययन किया।

इस प्रकार दक्षिण, मध्य और पश्चिम भारत के अनेक प्रदेशों का भ्रमण क के बाद श्वेन त्साङ पुनः नालंदा पहुँचा। इस बार वह वहाँ अधिक दिनों तक न रुक सका। वह सर्वास्तिवादी मत के महान विद्वान प्रज्ञांभद्र से मिलने का ब इच्छुक था। अनेक विद्वानों ने श्वेन त्साङ से उनकी विद्वता की चर्चा की थ अतः वह उनसे मिलने के लिए तिलडक विहार गया। तिलडक नालंदा के पश्चि में थोड़ी दूर पर था। वहाँ श्वेन त्साङ ने दो महीनों तक प्रज्ञांभद्र के साथ त्रि पिटकों, शब्द विद्या हेतु-विद्या, तथा व्याकरण आदि पर विचार-विमर्श किया।

उसके बाद श्वेन त्साङ ने जयसेन से भेंट की। जयसेन एक क्षत्रिय विद्वान था। वह यस्तिवन पर्वत पर निवास करता था। उसके पास ज्ञान का महान भंडार था। वह चारों वेदों, खगोल शास्त्र, भूगोल शास्त्र, औषधि शास्त्र, और गणित का प्रकांड पंडित था। जयसेन को धन-दौलत तथा बड़े पदों में कोई रुचि नही थी। उसने बीस बड़े नगरों की जायदाद को दो बार ठुकरा दिया था। वह बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करता था। वह दयालु प्रकृति का व्यक्ति था। श्वेन त्साङ उससे मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ।

कुछ समय के बाद जयसेन और श्वेन त्साङ गया गए। वहाँ उन्होंने बुद्ध के असाधारण अवशेष देखे। आरंभ में उनके बारे में उन्हें संदेह होने लगा था। अचानक अवशेषों वाला गुंबज़ भाँति-भाँति के प्रकाश से जगमगाने लगा। वातावरण सुगंधित हो उठा। इससे उन दोनों का संदेह दूर हो गया। उनकी आस्था जग उठी। श्वेन त्साङ जयसेन के साथ दो वर्ष तक रहा। उसने जयसेन की सहायता से अनेक विद्याओं का अध्ययन किया और अपने अनेक संशयों का निवारण किया।

उसके बाद श्वेन त्साङ पुनः नालंदा वापस चला गया। वहाँ रहकर उसने एक पुस्तक की रचना की जिसमें तीन हज़ार पद थे। उसने यह पुस्तक शीलभद्र एवं नालंदा के अन्य विद्वानों को समर्पित की थी। उसमें श्वेन त्साङ ने सिंह रश्मि के विचारों का खंडन किया। सिंह रश्मि एक विद्वान साधु था। उसने योग के सिद्धांतों की अवहेलना की थी। श्वेन त्साङ ने एक ब्राह्मण विद्वान के साथ शास्त्रार्थ किया और उसे पराजित किया। श्वेन त्साङ के तर्कों से विद्वानों को विश्वास हो गया कि हिंदू दर्शन की विविध शाखाओं–विशेषरूप से सांख्य एवं वैशेषिक– के बारे में उसे असाधारण ज्ञान था। इससे पराजित विद्वान उसका प्रशंसक शिष्य बन गया। उसने कामरूप के राजा भास्करवर्मन से श्वेन त्साङ की

अद्वितीय विद्वता एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों की चर्चा की थी। इससे भास्कर-वर्मन श्वेन त्साङ से मिलने के लिए आतुर हो उठा।

एक दिन भास्करवर्मन के दूत श्वेन त्साङ को कामरूप ले जाने के लिए निमंत्रण लेकर नालंदा पहुँच गए। शीलभद्र इस पक्ष में नहीं था। लेकिन भास्कर-वर्मन तो हर हालत में श्वेन त्साङ को कामरूप बुलाना चाहता था। आवश्यकता पड़ने पर वह सैनिक बल का प्रयोग करने के लिए भी तुला था। ऐसी स्थिति में श्वेन त्साङ को कामरूप जाना ही पड़ा। वहाँ पहुँचने पर भास्करवर्मन ने उसका एक महीने तक राजकीय सत्कार किया। उसके तथा चीन के बारे में उससे जानकारी प्राप्त की।

इस बीच जब कन्नौज के राजा हर्षवर्धन को इस बात का पता लगा तो उसे बहुत बुरा लगा। उसने भास्करवर्मन को संदेश भिजवाया कि वह श्वेन त्साङ को तुरंत वापस भेज दे। अतः भास्करवर्मन ने स्वयं अपनी सेना के बीस हज़ार हाथी और तीस हज़ार नावों के साथ श्वेन त्साङ को लेकर गंगा में यात्रा की। हर्ष भी अपनी सेना लेकर श्वेन त्साङ का स्वागत करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा। दोनों दल कजंगल पहुँचे। वहाँ उन्होंने थोड़े समय के लिए पड़ाव डाले। इससे पहले कि श्वेन त्साङ को हर्षवर्धन के समक्ष विधिवत प्रस्तुत किया जाय वह स्वयं किसी को बिना बताए श्वेन त्साङ के पास जा पहुँचा। अपना परिचय दिया और अभिवादन किया। इसके बाद हर्ष ने श्वेन त्साङ से उसकी एक पुस्तक देखने की इच्छा व्यक्त की जिसमें उसने महायान के सिद्धांतों का समर्थन किया था। श्वेन त्साङ ने तुरंत वह पुस्तक हर्ष के सामने रख दी।

उन दिनों बौद्ध धर्म के दो अंगों महायान और हीनयान में काफी मतभेद चल रहा था। इसके समाधान के लिए हर्षवर्धन ने कन्नौज में एक विशाल सभा का आयोजन किया। उसमें भारत के सभी भागों से तीन हज़ार बौद्ध, तीन हज़ार

ब्राह्मण एवं जैन और नालंदा के एक हज़ार विद्वानों ने भाग लिया। अठारह राजकुमार तथा अनेक उच्च पदाधिकारी भी उसमें सम्मिलित हुए। सम्राट हर्ष ने सभा का उद्घाटन किया और श्वेन त्साङ ने सभा की अध्यक्षता की। धार्मिक विषयों पर बड़ा वाद-विवाद हुआ। श्वेन त्साङ ने विद्वतापूर्ण भाषण दिया और श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। उसने महायान मत का खंडन करने के लिए विद्वानों को चुनौती दी। परंतु किसी ने उसकी चुनौती स्वीकार नहीं की। अतः महायान के सिद्धांतों को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। श्वेन त्साङ का यश-सौरभ सर्वत्र फैल गया। उसकी योग्यता एवं निडरता से हर्ष भी बड़ा प्रसन्न हुआ। हीनयान मतावलंबियों को इस पराजय से बड़ी आत्मग्लानि हुई। अतः उन्होंने श्वेन त्साङ की हत्या के लिए एक षड़यंत्र रचा। किंतु ज्यों ही हर्ष को इसका पता लगा उसने तुरंत एक कड़ी चेतावनी दे दी। इससे वे लोग होश में आ गए। उन्होंने श्वेन त्साङ को 'मोक्षदेव' की उपाधि से विभूषित किया। महायानियों ने उसे 'महायोनदेव' उपाधि से सम्मानित किया। इस प्रकार श्वेन त्साङ को भारत में अद्वितीय सम्मान एवं गौरव प्राप्त हुआ।

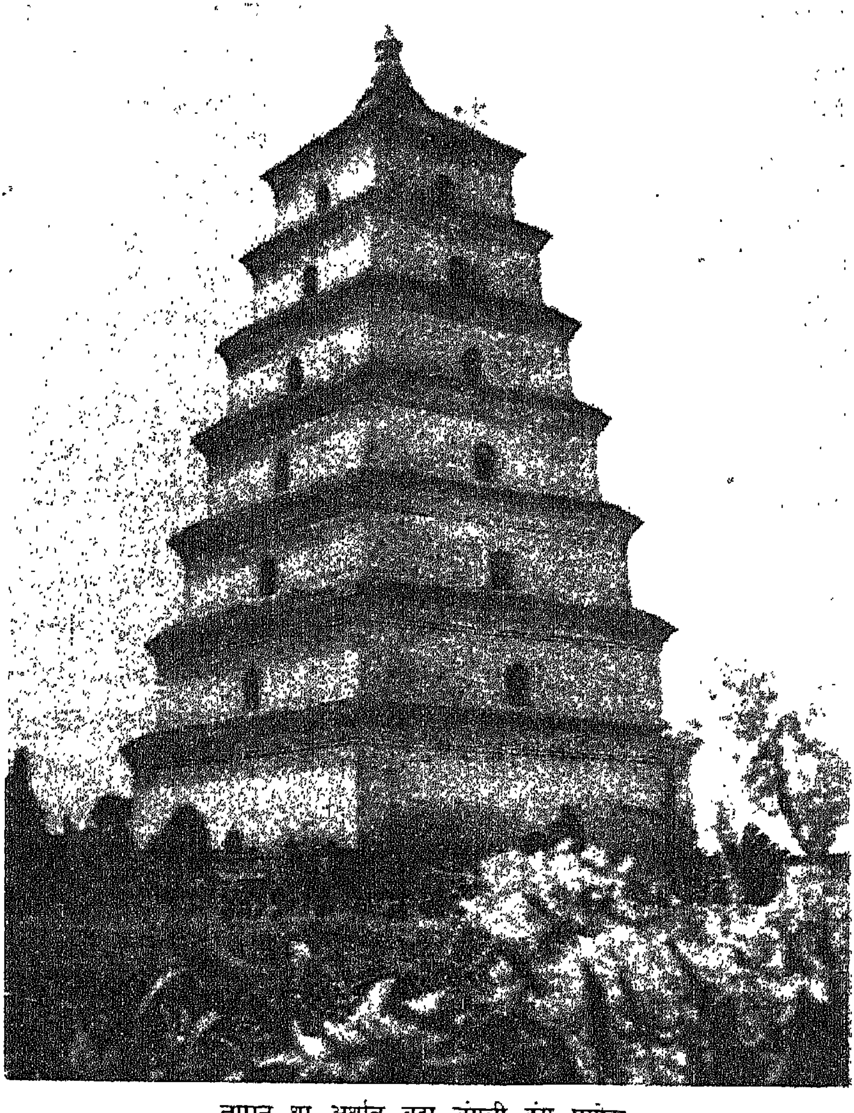
उन्ही दिनों प्रयाग में हर्षवर्धन एक मोक्ष-परिषद का आयोजन करने वाला था। अतः वह श्वेन त्साङ को अपने साथ प्रयाग ले गया। वहाँ संगम पर आयोजित उत्सव को देखने के बाद श्वेन त्साङ ने हर्ष से विदा ली। हर्ष तो उसे बहुत सारी बेशकीमती वस्तुएँ भेंट में देना चाहता था। किंतु उसने कोई भी कीमती वस्तु स्वीकार नहीं की। केवल कामरूप के राजा से वर्षा से बचने के लिए उसने एक चमड़े का टोप ले किया। हर्ष ने श्वेन त्साङ को जालंधर के शासक उधित की देख-रेख में छोड़ दिया। उसकी यात्रा के खर्च के लिए हर्ष ने उधित को 10000 सोने के और 30000 चाँदी के सिक्के तथा 100 उच्च कोटि के सूती वस्त्र प्रदान किए। हर्ष स्वयं श्वेन त्साङ को विदा करने के लिए दो मील दूर तक उसके साथ गया। तीन दिन बाद उसने पुनः आगे जाकर श्वेन त्साङ और उसके साथियों को

अंतिम विदाई दी। उसके साथ अपने चार मंत्री भेजे तथा उन राजकुमारों के नाम परिचय-पत्र दिए जिनके राज्यों में होकर श्वेन त्साङ को आगे जाना था।

श्वेन त्साङ ने आगे की यात्रा में कोई जल्दबाजी नहीं की। रास्ते में जो भी पवित्र स्थान आता था श्वेन त्साङ वहाँ रुककर पूजा अवश्य करता था। उधित उसके साथ जालंधर तक गया। वह उसकी राजधानी थी। वहाँ श्वेन त्साङ एक माह तक रहा। फिर सिंहपुर होकर वह तक्षशिला पहुँचा। वहाँ उसे अपने पुराने मित्र कश्मीर के राजा से एक बार फिर कश्मीर जाने का निमंत्रण मिला। परंतु इस बार वह कश्मीर नहीं जा सका क्योंकि उसके साथ कई हाथी थे जिन पर भारी सामान लदा हुआ था।

सिंधु नदी पार करते समय श्वेन त्साङ के साथ एक दुर्घटना हुई। एक नाव जिसमें कुछ पांडुलिपियाँ तथा प्रतिमाएँ थीं, पानी में उलट गई। इससे पचास पांडुलिपियाँ नदी में डूब गईं। श्वेन त्साङ ने स्वयं एक हाथी पर सवार होकर सुरक्षापूर्वक नदी पार की। उस पार कपिसा के राजा ने उसकी अगवानी की। कपिसा में वह पचास दिन रुका। वहाँ उसकी अंतिम विदाई के लिए कश्मीर का राजा स्वयं आया। कपिसा का राजा श्वेन त्साङ को छोड़ने के लिए लमगान तक गया। वहाँ के राजकुमार ने श्वेन त्साङ का स्वागत किया। लमगान की राजधानी में आयोजित मोक्ष-महादान समारोह में श्वेन त्साङ ने भाग लिया। राजा के आदेशानुसार वह समारोह पचहत्तर दिन तक मनाया गया।

लमगान से श्वेन त्साङ बन्नू की ओर गया। वहाँ पहुँचकर उसने पंद्रह दिन तक विश्राम किया। भारत की सीमा में यह उसका अंतिम पड़ाव था। वहाँ से चीन के लिए यात्रा पहले की अपेक्षा सरल और सुगम थी। पामीर को पार कर कशगर, यारकंद, खोतान और लोपनोर आदि राज्यों की यात्रा करता हुआ वह पंद्रह वर्षों के बाद स्वदेश वापस लौटा।



तागन था अर्थात् बड़ा जंगली हंस पगोडा

श्वेन त्साङ की उपलब्धियों का संदेश चीन पहुँच चुका था। वह अपने साथ भारत से एक अमूल्य ख़जाना ले गया था। वह ऐसा ख़जाना था, जिसे न तो सोने से ही खरीदा जा सकता था और न तलवार से जीता जा सकता था। श्वेन त्साङ 645 ई॰ में सिगनफू पहुँचा। उस समय उसके साथ बुद्ध की अनेक सोने-चाँदी और चंदन की मूर्तियाँ थीं तथा छः सौ पचास के लगभग पांडुलिपियाँ थीं। उनमें बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों जैसे, स्थविर, सम्मितीय, महीशासक, सर्वास्तिवादी, काश्यपीय और धर्मगुप्त की विचारधाराओं से संबंधित ग्रंथ थे। साथ ही शब्द-विद्या और हेतु-विद्या आदि विषयों के ग्रंथ भी थे।

श्वेन त्साङ ने अपने जीवन के शेष दिन उन संस्कृत ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद करने में व्यतीत किए। इस कार्य में अनेक भारतीय एवं चीनी भिक्षु विद्वानों ने उसका साथ दिया। चीन के सम्राट ने भी उसको राजकीय संरक्षण प्रदान किया। अनेक ऐसे विद्वानों की नियुक्ति की गई जो अनुवाद करने में उसकी सहायता कर सकें। श्वेन त्साङ के प्रस्ताव पर ही सन् 652 में शियन नगर से चार किलोमीटर दक्षिण में तासियन मंदिर के प्रांगण में ताएन था अर्थात बड़ा जंगली हंस पगोडा बनाया गया। अपने जीवन के अंत समय तक श्वेन त्साङ उसी पगोडा में रहा। वहीं रहकर उसने अनुवाद का काम किया। सन् 661 तक उसने चौहत्तर प्रमुख ग्रंथों का अनुवाद पूरा कर लिया था; उनमें 1335 अध्याय थे। श्वेन त्साङ एक प्रतिभाशाली अनुवादक था। उसने बड़ी निष्ठा और सावधानी से अनुवाद-कार्य संपन्न कराया। सन् 664 में श्वेन त्साङ का निधन हो गया। उस समय तक स्वदेश लौटे हुए उसके उन्नीस वर्ष बीत चुके थे। सन् 669 में चीन के सम्राट के आदेश पर श्वेन त्साङ के अवशेप फा श्वेन घाटी के उत्तर में एक स्थान पर पहुँचा दिए गए थे। वहाँ उसकी स्मृति में एक गुंबज बना दिया गया था।

श्वेन त्साङ के अनुसार चीन के निवासी भारत को अनेक नामों से पुकारते थे

जैसे, तिऐंचु, शिंतु, हियंताव अर्थात इंतु। किंतु उसके विचार में इस देश का सबसे अच्छा नाम इंतु ही था। उसका तर्क यह था कि चीनी भाषा में इंतु शब्द का अर्थ चन्द्रमा है। जिस तरह चंद्रमा अपने प्रकाश से संसार को प्रकाशित करता है उसी तरह इस देश के पवित्र पुरुषों और ऋषियों ने संसार का मार्ग-दर्शन किया है और इसे महानता प्रदान की है। यही कारण है कि इस देश का नाम इंतु पड़ा है। संपूर्ण भारत को उस समय लोग ब्रह्म-राष्ट्र के नाम से भी जानते थे।

श्वेन त्साङ के अनुसार भारत में ब्यासी राज्य थे जिनमें दो श्रीलंका और फारस थे। वे दोनों भारत की भौगोलिक सीमाओं के बाहर थे। लान-पो अथवा लमगान, नगरहार, और बन्नू कपिसा के अधीन थे। तक्षशिला, सिंहपुर, उरस, पुंज और रजोरी कश्मीर राज्य के अधीन थे। उद्यान और पुरुषपुर राज्य थे। स्वात और गांधार देश थे। कपिलवस्तु, कुशीनगर और गया नगर थे। श्रावस्ती नगर कौशल राज्य में था। पाटलिपुत्र मगध राज्य में था और वाराणसी काशी राज्य में थी। इस प्रकार का विभेद श्वेन त्साङ ने किस आधार पर किया— कहना बड़ा कठिन है। संभवतः राज्यों से उसका अर्थ केवल प्रशासनिक इकाइयों से रहा होगा, भले ही वे स्वतंत्र राज्य रहे हों।

श्वेन त्साङ ने भारत की जलवायु, फल-फूल, वृक्ष आदि का कहीं-कहीं वर्णन किया है। उसने भारत की खनिज संपदा का भी उल्लेख किया है। उत्तर-पश्चिमी भारत में उसके समय अनेक खनिज पदार्थ बहुलता से उपलब्ध थे। उद्यान, कुलुत और टक्क में सोना निकलता था। उद्यान एवं टक्क में लोहा मिलता था। कुलुत और टक्क में चाँदी निकाली जाती थी। टक्क एवं कुलुत में ताँबे की खानें थीं। द्राविड़ में मूल्यवान हीरे और कुलुत में रत्न एवं बहुमूल्य पत्थर पाए जाते थे। उक्त पदार्थ काफी मात्रा में थे। इनके बदले में भारतीय व्यापारी बंदरगाहों में आए विदेशियों से विदेशी वस्तुएँ खरीदा करते थे।

श्वेन त्साङ ने अनेक जंगली एवं पालतू पशुओं का वर्णन किया है। सिंध में भेड़ें और ऊँट पाले जाते थे। कुशीनगर के निकट जंगल में जँगली बैल और हाथी भरे पड़े थे। भागलपुर और मुंगेर के जंगलों में भी हाथी पाए जाते थे।

बौद्ध दंतकथाओं में बंदर और हाथियों का विशेपरूप से उल्लेख पाया जाता है। बौद्ध अनुयायियों के अनुसार इन पशुओं में अपने धार्मिक कर्त्तव्यों के प्रति असाधारण बुद्धि, भक्ति और लगन पाई जाती है। पशुओं में से कुछ तो बुद्ध का बड़ा सम्मान करते थे। उनकी मानव पुजारियों की भाँति पूजा करते थे। कुछ बंदर और पहाड़ी हिरन प्रयाग में पवित्र स्नान के लिए जाते थे। उनमें से भी कुछ तो अपना परलोक सुधारने के लिए भोजन-पानी छोड़ देते थे और अपने प्राण त्याग देते थे।

हाथियों में बुद्ध के अवशेषों एवं पवित्र स्थानों की रक्षा करने की महती भावना थी। श्वेन त्साङ ने ऐसे कुछ दृष्टांतों का वर्णन किया है। प्राचीन काल में रामग्राम के राजा ने बुद्ध के कुछ अवशेपों के ऊपर ईंटों का एक स्तूप बनवाया था। कालांतर में वह प्रदेश उजड़ गया। उस स्तूप के आस-पास जंगल उग आया। एक भी मनुष्य नहीं बचा जो उस स्तूप की देख-रेख कर सकता। लेकिन किसी दिव्य शक्ति की प्रेरणा से जंगली हाथियों का एक समूह उस स्थान को धोने लगा, उसकी सफाई करने लगा और वहाँ फूल चढ़ाने लगा। यह क्रम निरंतर चलता चला आ रहा था। एक दिन एक बौद्ध भिक्षु अपने साथियों के साथ उस स्तूप की पूजा करने के लिए उस जंगल में गया। अचानक उन्होंने हाथियों के एक झुंड को आते देखा। डर के मारे वे एक जगह छिप गए। जब उन्होंने उन हाथियों को फूल चढ़ाते और पूजा करते देखा तो वे बहुत प्रभावित हुए। एक भिक्षु वहीं रह गया। निकटवर्ती राजा की सहायता से उसने वहाँ एक विहार बनवाया। श्वेन त्साङ उस विहार में गया था। उस समय भी वहाँ कुछ बौद्ध भिक्षु रहते थे। वे आगंतुकों की बड़ी विनम्रता से सेवा करते थे।

इसी प्रकार एक बार एक बौद्ध भिक्षु कश्मीर से आया। वह एक जंगल से गुजर रहा था। अचानक वह चिंघाड़ते हुए हाथियों के एक झुंड के सामने आ गया। उन्हें देखकर वह डर गया तथा एक पेड़ पर चढ़ गया। हाथियों ने उस वृक्ष को घेर लिया। वे अपनी सूँड़ों में पानी भर लाए। उस पानी को उन्होंने उस वृक्ष की जड़ों में छोड़ दिया। जब उसकी जड़ें गीली हो गई तो उस वृक्ष को जड़ से उखाड़ लिया। बेचारे भिक्षु की तो हालत ही खराब होने लगी। किंतु उन हाथियों ने उसको किसी प्रकार की चोट नहीं पहुँचाई। धीमे से उन्होंने अपनी सूँड से उसे उठाया और अपने एक साथी की पीठ पर बिठा लिया। वे उसे जंगल के बीचों-बीच ले गए। वहाँ उसे उतार दिया। उस स्थान पर एक बीमार हाथी था। उसका एक पैर बुरी तरह सूजा हुआ था। वह दर्द से छटपटा रहा था। उसकी यह दशा देखकर भिक्षु को बड़ा दुख हुआ। उसने तुरंत उस हाथी की सेवा और चिकित्सा आरंभ कर दी। उस हाथी के पैर में बाँस की एक खपच्च चुभी हुई थी। भिक्षु ने उसे खींच लिया। हाथी के घाव को उसने धोया, साफ किया, सुखाया और उस पर पट्टी बाँध दी। उससे हाथी को राहत मिल गई। दूसरे दिन सुबह अन्य हाथी उस भिक्षु के लिए जंगल से अनेक प्रकार के फल लाए। उसने उन्हें पेट भर खाया। उसके बाद उस घायल हाथी ने, जो वस्तुतः उन हाथियों का राजा था, उस भिक्षु को एक सोने की मंजूषा भेंट की। उसे पाकर भिक्षु बहुत खुश हुआ। हाथियों ने मिलकर उस भिक्षु को उठाकर अपने एक साथी की पीठ पर बिठा लिया और उसे उसी स्थान पर पहुँचा दिया जहाँ से वे उसे पकड़कर लाए थे। मन ही मन भिक्षु ने हाथियों को धन्यवाद दिया और मंजूषा लेकर कश्मीर वापस चला गया। वहाँ पहुचँकर जब उसने उसे मंजूषा को खोला तो उसमें से उसे बुद्ध का एक दाँत मिला।

अपनी यात्रा के बीच श्वेन त्साङ ने देखा था कि भारत के विविध भागों के निवासियों की आदतों, रीति-रिवाज़ों और शारीरिक रचना में काफी भिन्नता थी।

कश्मीर के निवासियों के स्वभाव के बारे में उसकी राय आंशिक रूप से अच्छी नहीं थी। लेकिन वह इस बात से प्रभावित था कि वे सुंदर थे और ज्ञान के साधन थे। वे ऊनी और सूती वस्त्र धारण करते थे। कामरूप के लोग ईमानदार थे। परंतु उनका कद छोटा और रंग साँवला था। आंध्रनिवासी भावुक थे। कर्ण सुवर्ण (मुर्शिदाबाद जिले में रांगामाटी) में ईमानदार और मिलनसार लोग रहते थे। वे विद्यार्जन में रुचि रखते थे। सातवीं शताब्दी के मराठे अत्यंत बहादुर थे। उनका कद ऊँचा, शरीर सुदृढ़ और स्वभाव निर्भीक था। परोपकार के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। मित्रों के प्रति अनुग्रहीत रहते थे। वे अपने शत्रुओं को कभी क्षमा नहीं करते थे। वे वीरता से रण-भूमि में जाते थे। युद्ध जीतने का उनमें संकल्प होता था। मृत्यु से वे कभी भयभीत नहीं होते थे। युद्ध से भागना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। पराजित सेनानायकों को वे स्त्रियों के वस्त्र पहनाकर भगा देते थे। यह दंड मृत्यु से भी अधिक अपमानजनक था। पराजित व्यक्ति इतना लज्जित होता था कि वह स्वयं आत्म-हत्या कर लेता था। सिंध में श्वेन त्साङ ने एक ऐसा बौद्ध समुदाय देखा जो जानवर पालता था। वे भिक्षुओं जैसे चोले पहनते थे और अपने सिर मुड़वा के रखते थे। परंतु वैसे वे गृहस्थ जीवन बिताते थे। उनका स्वभाव बड़ा क्रूर था। उद्यान के लोग जादू में निपुण थे।

उक्त विविधताओं के बावजूद श्वेन त्साङ ने भारत के लोगों की वेश-भूषा में उल्लेखनीय समानता देखी। केवल उत्तर भारत के ठंडे प्रदेशों में लोग जैकेट पहनते थे। अन्य भागों में सिले हुए कपड़े लोग जानते ही नहीं थे। पुरुष कमर के चारों ओर एक कपड़ा बाँध लेते थे। वह कपड़ा बगलों तक चढ़ा होता था। उनका दायाँ कंधा खुला रहता था। स्त्रियाँ लंबे चोगे पहनती थीं। चोगे उनके दोनों कंधों को पूरी तरह ढ़के रहते थे। वे नीचे की ओर ढीले-ढाले रहते थे तथा फर्श तक लटकते रहते थे। लोग सफेद वस्त्र अधिक पसंद करते थे। अपने-अपने साधनों के अनुसार लोग रेशमी, ऊनी और सूती कपड़े पहनते थे।

बौद्ध साधुओं के वस्त्र और आभूषण सबसे भिन्न होते थे। अन्य लोग तरह-तरह के अजीबोगरीब वस्त्र पहनते थे। श्वेन त्साङ के अनुसार कुछ लोग मोर के पंखों से अपना शरीर ढकते थे। कुछ खोपड़ियों की माला पहनते थे। कुछ नंगे रहते थे तो कुछ अपने शरीर को घास-फूँस से ढक लेते थे। किसी के बाल लंबे लटकते थे और मूँछें कटी होती थीं। कुछ लोगों के सिर के दोनों ओर बाल दबे रहते थे और बीच में एक जूड़ी उठी रहती थी। उनके कपड़े भिन्न-भिन्न प्रकार के थे और उनके रंग अलग-अलग थे।

राजसी और कुलीन लोगों के वस्त्र भी जन-साधारण के वस्त्रों से भिन्न प्रकार के होते थे। श्वेन त्साङ के अनुसार वे अपने सिरों पर मालाएं एवं मुकुट पहनते थे। उन मुकुटों में बेशकीमती रत्न जुड़े होते थे। गले में हार, बाहों में बाजूबंद और उंगलियों में अंगूठियाँ पहनते थे। राजा और उसके प्रधानमंत्री के वस्त्रों और आभूषणों में फर्क होता था। धनाढय व्यापारी सोने की अंगूठी पहनते थे।

श्वेन त्साङ के समय भारत में लोग बैठने और सोने के लिए आसन या चटाइयों का प्रयोग करते थे। राज परिवार के सदस्य और कर्मचारी विविध प्रकार की सुसज्जित चटाइयाँ काम में लाते थे। राजा के बैठने के लिए गद्दी बड़ी और ऊँची बनाई जाती थी। उस पर अति सुंदर कपड़ा चढ़ा रहता था। उसके पायों में बेशकीमती रत्न जुड़े रहते थे। प्रतिदिन व्यक्ति अपने बैठने के लिए अपनी इच्छानुकूल सुंदर, चित्रित और बहुमूल्य आसन बनवाते थे।

श्वेन त्साङ के समय भारत में जाति प्रथा थी। समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में बँटा था। सामान्यतः अंतर्जातीय विवाह नहीं होते थे। स्त्रियाँ अपने जीवन में केवल एक बार ही विवाह कर सकती थीं। किंतु जाति प्रथा में भी कुछ-कुछ परिवर्तन होने लगा था। खेत जोतना शूद्रों का काम बन गया था। वैश्यों ने खेती करना छोड़ दिया था। वे व्यापार में लगे रहते थे तथा देश-विदेश में व्यापार करके लाभ उठाया करते थे। शूद्रों की स्थिति अच्छी नहीं थी।

लोगों के भोज्य और पेय पदार्थों का वर्णन करते हुए श्वेन त्साङ ने लिखा है कि वे अदरक, सरसों, राई, ख़रबूजा, तरबूज, कद्दू आदि खाते थे। लहसुन और प्याज बहुत कम लोग खाते थे। जो उन्हें खाता था उसे नगर से बाहर निकाल दिया जाता था। सबसे अधिक उपयोगी भोज्य पदार्थ दूध, मक्खन और मलाई थी। गुड़, राब, मिश्री, सरसों के तेल और अन्न से बने अनेक प्रकार के पदार्थ भोजन में काम आते थे। मछली, बकरा, भेड़ें और हरिण का मांस प्रायः ताज़ा खाया जाता था। बैल, गधा, हाथी, घोड़ा, सुअर, कुत्ता, लोमड़ी, भेड़िया, शेर, बँदर और सब प्रकार के बालवाले जीवों का मांस-भक्षण निषेध था। अनेक प्रकार की मदिरा और आसवों का उत्पादन होता था। किंतु क्षत्रिय लोग अंगूर और गन्ने का रस पीते थे। बौद्ध साधू और ब्राह्मण अंगूर और गन्ने के रस से बने एक प्रकार के शरबत का सेवन करते थे। वह शरबत मदिरा से भिन्न होता था। वैश्य लोग तेज़ जायकेदार मदिरा पीते थे।

श्वेन त्साङ ने स्वयं देखा था कि भारतवासी अपनी शारीरिक सफाई की ओर बहुत ध्यान देते थे। सब लोग भोजन से पहले स्नान करते थे। जो भोजन एक बार क़र लिया जाता था उसका शेष भाग जूठा माना जाता था। भोजन के पश्चात लोग अपने दाँतों की सफाई करते थे तथा अपने हाथ और मुँह धो लेते थे। प्रत्येक दीर्घ और लघुशंका के बाद वे स्नान करते थे। समृद्ध लोग सुगंधित वस्तुओं जैसे चंदन अथवा केसर का अपने शरीर पर लेप करते थे। राजा के स्नान के समय लोग नगाड़े बजाते थे और गीत गाते थे।

श्वेन त्साङ ने लिखा है कि प्रशासन का संचालन ईमानदारी से होता था। लोग सद्भाव से साथ-साथ रहते थे। अतः अपराधियों की संख्या कम थी। कभी-कभी लोग कानून का उल्लंघन करते थे तथा राजा के विरूद्ध षडयंत्र भी करते थे। पता लगने पर अपराधियों को आजीवन कारावास का दंड दिया जाता था। उसका अंग-भंग नहीं किया जाता था। लेकिन उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता

था। सामाजिक नैतिकता के भंग करने अथवा दुराचरण के लिए उसकी नाक, एक कान अथवा एक हाथ या एक पैर काट दिया जाता था। कभी-कभी अपराधी को देश से बाहर निकाल दिया जाता था या उसे जंगल में भेज दिया जाता था। कुछ अपराधों के लिए थोड़ा-सा जुरमाना लगा दिया जाता था।

श्वेन त्साङ के समय किसी व्यक्ति के अपराधी होने या न होने का पता लगाने की चार विधियाँ थीं। उन विधियों में जल, अग्नि, मापन और विष द्वारा परीक्षण किए जाते थे। जल परीक्षा में अभियोगी को एक बोरे में रख दिया जाता था तथा दूसरे बोरे में पत्थर भर दिए जाते थे। उन दोनों बोरों को एक दूसरे से बाँध दिया जाता था और उन्हें एक गहरे पानी में फेंक दिया जाता था। यदि पत्थर वाला बोरा तैरता रहता था और दूसरा डूब जाता था तो उस व्यक्ति को अपराधी मान लिया जाता था। अग्नि परीक्षा में अभियोगी को घुटने के बल झुककर गरम लोहे पर चलना होता था; उसे हाथ में लोहा लेना पड़ता था तथा जीभ से चाटना पड़ता था। यदि इस परीक्षा से उसको कोई भी क्षति नहीं होती थी तो उसे निर्दोष माना जाता था। मापन परीक्षा में अभियोगी को एक पत्थर से तोला जाता था। उस समय यदि पत्थर का बोझ उस व्यक्ति से कम निकलता तो उसे निर्दोष माना जाता था और यदि पत्थर भारी होता था तो उसे दोषी माना जाता था। विष-परीक्षा में किसी भेड़ की दाईं जाघ में एक घाव कर लिया जाता था। फिर उस व्यक्ति के खाने में सब प्रकार के विष मिला लिए जाते थे और उस विषैले खाने को भेड़ के घाव पर रख दिया जाता था। यदि ऐसा करने से वह भेड़ मर जाती थी तो उस व्यक्ति को दोषी समझा जाता था। और यदि उस भेड़ पर कोई प्रभाव नहीं होता था तो वह व्यक्ति निर्दोष घोषित कर दिया जाता था।

श्वेन त्साङ के समय राजकीय कर कम थे। व्यापारियों को घाटों और नाकों पर हल्के से कर देने पड़ते थे। राजा के काश्तकारों को अपनी उपज का छठा

भाग लगान के रूप में देना पड़ता था। बेगार की प्रथा तो लगभग थी ही नहीं। मजदूरों को बहुत ही उचित मजदूरी दी जाती थी। राजा को भूमि से जो आय होती थी उसे चार भागों में बाँट दिया जाता था। पहले भाग से राजकीय कार्य और धार्मिक उत्सव (यज्ञादि) किए जाते थे। दूसरे भाग से मंत्रियों और राजकीय अधिकारियों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाता था। तीसरे भाग से विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों को पारितोषिक दिए जाते थे। चौथे भाग से धार्मिक व्यक्तियों को दान दिए जाते थे जिससे कि धर्म की खेती पनपती रहे।

प्रत्येक प्रांत में अलग-अलग अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। वे विभिन्न प्रकार की घटनाओं के वर्णनों और राजकीय दस्तावेज़ों को अभिलेखागारों में सम्हाल कर सुरक्षित रखते थे। उन विवरणों को नीलाशी अभिलेखों की श्रेणी में रखा जाता था क्योंकि वे नीले फीते से बंधे होते थे और महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। उन विवरणों में अच्छी-बुरी घटनाओं, विपत्तियों और शुभकृत्यों का वर्णन रहता था। इतिहास की रचना के लिए इस तरह के विवरण बहुत ही उपयोगी होते हैं।

श्वेन त्साङ स्वयं एक बुद्धिजीवी था। अतः उसने अपने समकालीन और अपने से पहले के अनेक भारतीय बुद्धिजीवियों की चर्चा की है। वह पाणिनी की जन्म-भूमि शा-लू-तोलू गया था। वह स्थान उद्भाणपुर से चार मील दूर था। पाणिनी ने अष्टाध्यायी नामक सुप्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण की रचना की थी। उस समय इस पुस्तक की लिखित प्रतियाँ दुर्लभ थीं। अतः उसे कंठस्थ करने की परंपरा थी। शिक्षक अपने शिष्यों को व्याकरण इसी परंपरा से पढ़ाते थे। पाणिनी के व्याकरण का उस समय बहुत प्रचलन था। सभी विद्यालयों में अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती थी—बौद्ध विद्यालयों में भी।

बौद्ध बुद्धिजीवियों में श्वेन त्साङ ने चार महान विद्वानों का उल्लेख किया है—अश्वघोष, नागार्जुन, देव और कुमारलाट। उनका वह सम्मान भी बहुत करता

था। इत्सिङ ने भी अश्वघोष, नागार्जुन और देव का उल्लेख किया है। वह भी उन्हें बौद्ध विद्वानों में सर्वोपरि मानता था।

कुमारलाट अश्वघोष का समकालीन था। परंतु वह अश्वघोष से छोटा था। कुमारलाट अथवा कुमारलब्ध तक्षशिला का निवासी था। उसे जबरन कबंध देश ले जाया गया था। वहाँ के राजा ने उसके लिए एक भव्य विहार का निर्माण करवाया था। कुमारलाट ने अपने कुछ ग्रंथों की रचना तक्षशिला के एक विहार में रहकर की थी। कुमारलाट के ग्रंथ उस समय काफी प्रसिद्ध थे। बहुत से लोग उन्हें पढ़ते थे। कुमारलाट सूत्रांतिक शैली का संस्थापक था।

इत्सिङ के संस्मरणों से हमें ज्ञात होता है कि अश्वघोष ने कई तरह के काव्यों की रचना की। उसने कुछ गीत लिखे। **सूत्रालंकार शास्त्र** तथा **बुद्ध-चरित-काव्य** लिखा। **बुद्ध-चरित-काव्य** में उसने बुद्ध के जीवन, सिद्धांत और कार्यों का उल्लेख किया है। यह काव्य समस्त भारत और उसके निकट समुद्रों के द्वीपों में लोकप्रिय था। अश्वघोष ने **सौंदरानंद काव्य** भी लिखा था। कुछ लेखकों का विचार है कि उसने **सारी-पुत्र प्रकरण** नामक नाटक की भी रचना की थी। अश्वघोष जन्म से ब्राह्मण था। वह एक अच्छा संगीतज्ञ एवं गायक भी था। उसकी जन्मभूमि के बारे में काफी मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि उनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था। अन्य विद्वानों के अनुसार वह बनारस अथवा पाटलिपुत्र में पैदा हुआ था। परंतु सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि अश्वघोष बौद्ध धर्म का प्रकांड पंडित था। वह उच्च कोटि का विद्वान था।

श्वेन त्साङ ने नागार्जुन की चर्चा करते समय लिखा है कि उसे जीवन के अनेक ऐसे रहस्यों का पता था जिनसे उसने अपनी तथा अपने राजसी संरक्षकों की आयु बढ़ा ली थी। उसने और भी अनेक अद्भुत कार्य किए थे। नागार्जुन के जीवन के बारे में श्वेन त्साङ के समय बहुत-सी किवदंतियाँ प्रचलित थीं। कहते हैं कि उसे समस्त वेदों तथा अन्य सभी विद्याओं का ज्ञान था। उसे

जादू-टोना भी आता था। उसने बौद्ध धर्म कैसे अपनाया इसकी भी एक कहानी है। एक दिन अपने तीन मित्रों के साथ वह एक राजा के अंतःपुर में घुस गया। वहाँ वे सब पकड़े गए। नागार्जुन के तीन मित्रों को मृत्युदंड दे दिया गया। उसे भी मृत्युदंड की धमकी दी गई। उससे पूछा गया कि वह मृत्युदंड स्वीकार करेगा या बौद्ध भिक्षु बनना। वह मरना नहीं चाहता था अतः उसने बौद्ध भिक्षु बनना स्वीकार कर लिया। उसके बाद उसने बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन आरंभ किया। तीन पिटकों को उसने केवल नब्बे दिन में ही पढ़ डाला।

हिमालय में एक वृद्ध साधु रहता था। उसके पास **महायान-सूत्र** थे। नागार्जुन ने उसकी सेवा की और उसे प्रसन्न करके उससे वे कीमती ग्रंथ प्राप्त कर लिए। लोग नागार्जुन की इज्जत करते थे। उन्होंने उसे अनेक ग्रंथों का लेखक मान रखा था। नागार्जुन की सबसे अधिक लोकप्रिय रचना सुहल्लेख है। विद्वानों का कहना है कि इस काव्य को बहुत से विद्यार्थी कंठस्थ कर लेते थे।

नागार्जुन ने **माध्यमिक-कारिका काव्य** लिखा था। उसमें चार सौ पद थे। इस काव्य में नागार्जुन ने महायान मत के अनेक सिद्धांतों को पहली बार प्रतिपादित किया था। उसने कई समीक्षात्मक दार्शनिक ग्रंथ भी लिखे।

आर्यदेव नागार्जुन का शिष्य था। उसे काणदेव भी कहा जाता था। काणदेव का अर्थ एक आँखवाले देव से है। वह श्रीलंका का निवासी था। उसके बारे में भी अनेक प्रकार की कहानियाँ श्वेन त्साङ के समय में प्रचलित थीं। पहली बार जब देव नागार्जुन से मिलने गया तो नागार्जुन ने एक प्याले में पानी भर कर देव के पास भेज दिया। देव ने उसमें एक सुई डाल दी और वह प्याला वापस उसके पास भेज दिया। यह देखकर नागार्जुन ने उसे तुरंत अंदर बुला लिया। इस कहानी में भरे प्याले का अर्थ नागार्जुन की प्रत्युपन्नमतित्व तथा सुई का अर्थ देव की तीखी बुद्धि से है। देव अंधविश्वासों का कड़ा विरोधी था। एक बार वह गंगा तट

पर गया। वहाँ उसने देखा कि लोग पूजा-पाठ कर रहे थे और गंगा में डुबकी लगा रहे थे। उसने उनसे पूछा–"तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?" उन्होंने उत्तर दिया–"इससे हमें मोक्ष प्राप्त होगी।" उत्तर सुनकर वह चौंका और बोला–"यदि गंगाजल से मोक्ष मिल जाए तो सभी मछुए मोक्ष पा जाएँ। विशेष रूप से मछलियाँ तो सबकी सब ही तर जाएँ क्योंकि वे तो दिन-रात गंगा में ही रहती हैं।"

देव का सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ **चतुर्शतक** है। इसमें चार सौ पद हैं। इसमें देव ने अपने गुरु नागार्जुन के महायान सिद्धांतों का समर्थन किया है। श्वेन त्साङ का कहना है कि लोग इसे **शतशास्त्र** नाम से भी जानते थे। देव ने इसकी रचना प्रयाग में रहकर की थी।

श्वेन त्साङ ने और भी अनेक विद्वानों की चर्चा की है। कुछ से वह स्वयं मिला था। कुछ के ग्रंथ पढ़े थे। अन्य विद्वानों के बारे में उसने औरों से सुना था। श्वेन त्साङ ने नालंदा में अनेक विद्वानों से भेंट की थी। उसने विशेषरूप से धर्मपाल, चंद्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, ज्ञान चंद्र और शीलभद्र के नामों का उल्लेख किया है। इन विद्वानों में धर्मपाल और शीलभद्र का नाम सर्वोपरि था।

धर्मपाल काँचीपुर के निवासी थे। उनके पिता एक उच्च अधिकारी थे। अतः धर्मपाल को सामाजिक प्रतिष्ठा तो जन्म से ही प्राप्त थी। साथ ही वह एक प्रतिभाशाली नवयुवक भी थे। ज्यों-ज्यों वह अध्ययन करते गए त्यों-त्यों उनकी ख्याति बढ़ती गई। उनकी विद्वता का यश राजा के कानों तक पहुँच गया। राजा उनसे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपनी पुत्री का उनके साथ विवाह करने का निश्चय कर लिया। लेकिन धर्मपाल को इससे कोई खुशी नहीं हुई। वह विवाह ही नहीं करना चाहते थे। उनके लिए यह भी कठिन था कि वह राजा के

प्रस्ताव को ठुकरा दें। अतः विवाह के दिन से एक रात पहले ही वह घर छोड़कर भाग गए। उन्होंने बुद्ध से आत्मरक्षा की प्रार्थना की। कहते हैं कि उन्हीं की कृपा से वह राज्य की सीमा से दूर एक पहाड़ी विहार में जा पहुँचे। वहाँ के भिक्षुओं ने उन्हें अपना लिया। वहाँ कुछ समय तक रहने के बाद धर्मपाल उत्तर की ओर चले गए। रास्ते में अनेक विद्वानों से उनका शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने सबको पराजित किया। वह नालंदा पहुँचे। वहाँ एक ब्राह्मण ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। वह ब्राह्मण भी दक्षिण भारत से वहाँ गया था। धर्मपाल को उससे शास्त्रार्थ नहीं करना पड़ा। उनके शिष्य शीलभद्र ने शास्त्रार्थ करने की चुनौती स्वीकार कर ली। इसके बाद धर्मपाल ने शास्त्रार्थ करना छोड़ दिया। अपना शेष समय वह पढ़ने-लिखने में लगाने लगे। उन्होंने तर्क और बौद्ध दर्शन पर अनेक ग्रंथ लिखे।

शीलभद्र का एक शाही परिवार में जन्म हुआ था। उनका परिवार समतट का निवासी था। बचपन से ही शीलभद्र का रुझान पढ़ाई-लिखाई की ओर था। अतः वह सब कुछ छोड़कर नालंदा चले गए। एक दिन धर्मपाल का नाम सुनकर वह उनसे मिलने उनके निवास पर गए। धर्मपाल उसके ज्ञान से प्रभावित हुआ तथा उनको अपना शिष्य बना लिया। शीलभद्र ने शास्त्रार्थ में ब्राह्मण विद्वान को पराजित किया। उनकी विद्वता की देश-विदेश में चर्चा होने लगी। एक राजा तो उनसे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने एक नगर का राजस्व ही शीलभद्र का दे दिया। किंतु शीलभद्र तो एक भिक्षु थे। अतः उन्होंने उसे लेना अस्वीकार कर दिया। वह अपने अध्ययन-अध्यापन में ही व्यस्त रहने लगे। जिस समय श्वेन त्साङ नालंदा पहुँचा उस समय शीलभद्र की ख्याति सर्वोपरि थी। वह एक ऐसे विद्वान थे कि उन्हें उनके विषयों एवं शास्त्रों का पूरा ज्ञान था। एक से एक बड़ा विद्वान उनके आगे नतमस्तक होता था। शीलभद्र नालंदा के गौरव का प्रतीक थे। श्वेन त्साङ बड़ा भाग्यशाली था जो उनसे मिल सका। चीन वापस पहुँचने के कुछ

ही समय बाद उसे यह दुखद समाचार मिला कि शीलभद्र का निधन हो गया। इस समाचार से श्वेन त्साङ को बड़ा धक्का लगा था।

श्वेन त्साङ संस्कृत भाषा से काफी प्रभावित था। उसका विचार था कि मध्य भारत में यह भाषा उस समय अपने मूलस्वरूप में प्रचलित थी। वहाँ के लोगों का उच्चारण देवताओं की भाषा के समान मधुर और ग्राहय था। सीमांत देशों में इसमें कुछ अशुद्धियाँ आ गई थीं। संस्कृत की लिपि को श्वेन त्साङ देव लिपि मानता था। वह लिपि विभिन्न देशों में अपना ली गई थी तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल उसकी अनेक शाखा और प्रशाखाएँ हो गई थीं।

तत्कालीन शिक्षा की चर्चा करते हुए श्वेन त्साङ ने लिखा है कि आरंभ में बच्चों को शिक्षा में रुचि पैदा करने के लिए सिद्धवस्तु नामक पुस्तक पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता था। उस पुस्तक में बारह अध्याय थे। जब बच्चा सात वर्ष का हो जाता था तो उसे पंचविद्यायों की शिक्षा दी जाती थी। पहली विद्या शब्द विद्या कहलाती थी। इसमें बच्चों का शब्द की रचना और उनकी धातुओं से परिचय कराया जाता था। दूसरी विद्या शिल्प स्थान विद्या थी। इसके अंतर्गत उन्हें कारीगरी, यंत्र-रचना, ज्योतिष और तिथि पत्र का ज्ञान दिया जाता था। तीसरी विद्या, चिकित्सा विद्या कहलाती थी। इसमें विद्यार्थियों को शरीर-रचना, उसकी रक्षा, औषधि, शल्य-चिकित्सा और जड़ी-बूटियों की पहचान एवं गुणों का ज्ञान दिया जाता था। चौथी विद्या हेतु-विद्या कहलाती थी। इसके द्वारा सत्य और असत्य का ज्ञान तथा शुद्ध और अशुद्ध का निदान समझाया जाता था। पांचवी विद्या आध्यात्म विद्या होती थी। इससे विद्यार्थियों को आत्मा-परमात्मा संबंधी ज्ञान प्रदान किया जाता था। ब्राह्मण विद्यार्थियों को चारों वेदों की शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में वर्णित विषयों से उन्हें अवगत कराया जाता था।

गुरुजन स्वयं महाविद्वान होते थे। वे निष्ठापूर्वक अपने अध्ययन और अध्यापन में व्यस्त रहते थे। अपने शिष्यों को बड़े चाव से पढ़ाते थे। परिणामस्वरूप उनके शिष्य कठिन से कठिन विषयों को बड़ी सरलता से समझ लेते थे। गुरुओं के आचरण का विद्यार्थियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता था। अपने-अपने व्यवसायों में प्रवेश करने पर वे लोग अपने गुरुओं का स्मरण करते थे।

कुछ विद्वान् सब कुछ त्यागकर ज्ञान की ही खोज में लगे रहते थे। श्वेन त्साङ ने लिखा है कि ऐसे विद्वानों के पास राजा भी स्वयं जाकर प्रणाम करता था और उनका सत्कार करता था। ऐसे विद्वानों की ख्याति सहज ही फैल जाती थी। कुछ विद्वान सांसारिक भोग-विलास में फंस जाते थे। इससे उन्हें बड़ा निरादर और अपयश मिलता था।

चीनी यात्रियों के वृतांतों से पता लगता है कि भारत में समय-समय पर शिक्षा के कई केंद्र पनपते रहे। कुछ को तो अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। एक समय में तक्षशिला विश्वविद्यालय शिक्षा का बहुत बड़ा केंद्र था। फा हियान तक्षशिला गया था। परंतु उस समय तक उसका पतन हो चुका था। श्वेन त्साङ के समय तक्षशिला के विहार खंडहर बन चुके थे। अधिकांश विद्वान वहाँ से चले गए थे। केवल थोड़े से महायानी बौद्ध भिक्षु वहाँ रह रहे थे।

श्वेन त्साङ नालंदा गया था। वहाँ रहकर वह पढ़ा था। उस समय (सातवीं शताब्दी में) नालंदा का यश अपनी चरम सीमा पर था। वहाँ न केवल भारत के विभिन्न भागों से बल्कि एशिया के और भी अनेक देशों से विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आते थे। वहाँ एक से एक बड़ा विद्वान रहता था। नालंदा में प्रवेश पाना बहुत ही कठिन कार्य था। बाहर से आने वाले विद्यार्थियों को द्वारपाल के कठिन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने की स्थिति में ही प्रवेश दिया जाता था। नए विद्यार्थियों की कठिन परीक्षा होती थी। थोड़े-से ही विद्यार्थी सफल हो पाते थे।

नालंदा के शिक्षकों और विद्यार्थियों की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा होती थी। अनेक योग्य और गंभीर विद्वानों ने नालंदा की कीर्ति के साथ-साथ अपनी कीर्ति को भी बढ़ाया था।

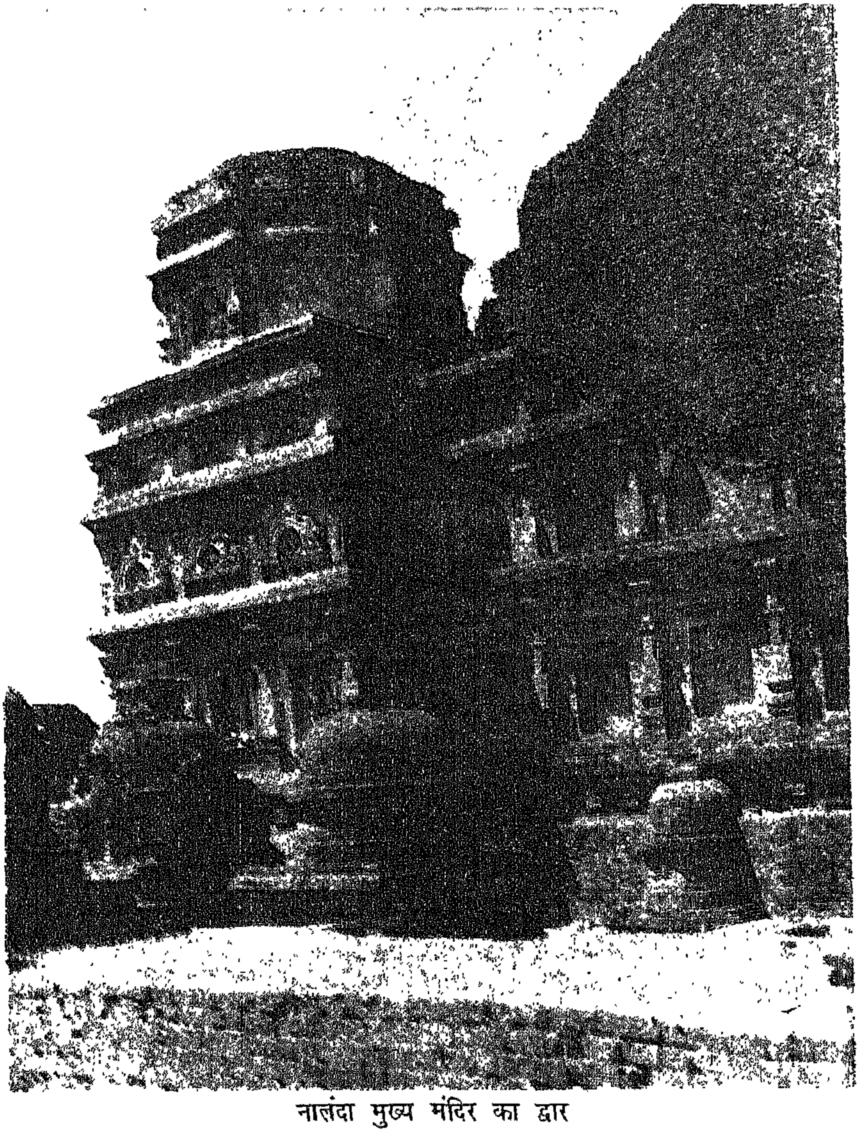
नालंदा में सदैव दस हजार भिक्षु और अतिथि निवास करते थे। ये महायान की सभी तथा बौद्ध धर्म की अठारहों शाखाओं के ग्रंथों का अध्ययन करते थे। साथ ही वे वेदादि ग्रंथों, हेतु-विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, जादू, सांख्य और विविध प्रकार की अन्य पुस्तकों का भी अध्ययन करते थे। नालंदा विहार में श्वेन त्साङ के समय एक हज़ार ऐसे विद्वान तीस संग्रहों की और दस विद्वान जिनमें श्वेन त्साङ भी एक था पचास संग्रहों का विश्लेपण कर सकते थे। शीलभद्र ही केवल एक ऐसे विद्वान थे जिन्होंने समस्त सूत्रों और शास्त्रों का अध्ययन किया था और उन्हें भली-भाँति समझा था। उनके विशिष्ट गुणों, प्रतिभा और वरीयता के कारण वे नालंदा विहार के अध्यक्ष बनाए गए थे। विहार में प्रतिदिन एक सौ व्याख्यानों का आयोजन होता था। सभी विद्यार्थी उन्हें सुनते थे; वे थोड़े से समय के लिए भी वहाँ से नहीं हटते थे।

नालंदा विहार के निवासियों के व्यवहार की भी श्वेन त्साङ ने प्रशंसा की है। उनका व्यवहार गौरवपूर्ण और गंभीर था। वे स्वेच्छा से विहार के नियमों का पालन करते थे। विहार के पिछले सात सौ साल के जीवन में एक भी निवासी ने नियमों का उल्लंघन नहीं किया था।

मगध का राजा विहार के भिक्षुओं का सम्मान करता था। विहार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने एक सौ गावों का राजस्व विहार को समर्पित कर दिया था। उन गावों के दो सौ परिवार प्रतिदिन सैकड़ों मन चावल, घी और दूध विहार में पहुँचा देते थे। परिणामस्वरूप विहारवासियों को भोजन, वस्त्र, बिस्तर और औषधि पर्याप्त मात्रा में निःशुल्क मिल जाती थी; वे पूरा मन लगाकर अपने अध्ययन-अध्यापन में रत रहते थे।

नालंदा के नाम के बारे में अनेक मत थे। फा हियान के अनुसार नालंदा के स्थान पर नाल नाम का एक गाँव था। कालांतर में उस गाँव का नाम नालंदा पड़ा गया। उस गाँव में प्रसिद्ध विद्वान सारिपुत्र का जन्म हुआ था। धीमे-धीमे वहाँ का वातावरण कुछ ऐसा बन गया कि एक के बाद एक विद्वान वहाँ जाकर रहने लगे। कुछ राजाओं ने उन्हें संरक्षण देना आरंभ कर दिया। इससे वह विद्वता का केंद्र बन गया। दूसरा लोक मत यह था कि नालंदा विहार के दक्षिण में एक आम्रवाटिका था। उसके बीच में एक तालाब था। उस तालाब में नालंदा नाम का एक नाग रहता था। उसी नाग के नाम पर वहाँ बने विहार का नाम नालंदा पड़ गया। तीसरा मत श्वेन त्साङ का था। उसने लिखा है कि प्राचीन काल में अपने पूर्व जन्म में जिन दिनों तथागत, बोधिसत्व अवस्था का अभ्यास कर रहे थे वे एक बड़े देश के राजा थे। उन्होंने नालंदा में अपनी राजधानी बनाई थी। वहां उन्होंने अनाथों और दरिद्रों की भलाई के लिए अपना सब कुछ दान कर दिया था। उनकी इस करूणहृदयता और दानशीलता के कारण लोगों ने उन्हें "न + अलं + दा" या 'दान देने से कभी न तृप्त होनेवाले' की उपाधि से सम्मानित किया था और उन्हें याद रखने के लिए उस स्थान का नाम नालंदा रख दिया था। इससे पहले उस स्थान पर एक आम्रवाटिका थी। पाँच सौ व्यापारियों ने दस लाख स्वर्ण मुद्राओं से खरीदकर वह वाटिका बुद्ध को समर्पित कर दी थी। बुद्ध ने तीन महीनों तक वहाँ रहकर धर्मोपदेश दिए थे।

बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही समय बाद राजा शक्रादित्य ने नालंदा विश्वविद्यालय का शिलान्यास करवाया था; उसने एक संघाराम बनवाया था। उसके बाद उसके कई वंशजों बुद्धगुप्त राजा, तथागत राजा, बालादित्य, और वज्र ने चार और संघाराम बनवाए। इस प्रकार गुप्त राजाओं ने नालंदा विश्वविद्यालय के निर्माण में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसे अपार धन संपत्ति दी। उनके बाद भी अनेक राजाओं ने नालंदा को काफी दान दिया और नए भवनों का निर्माण



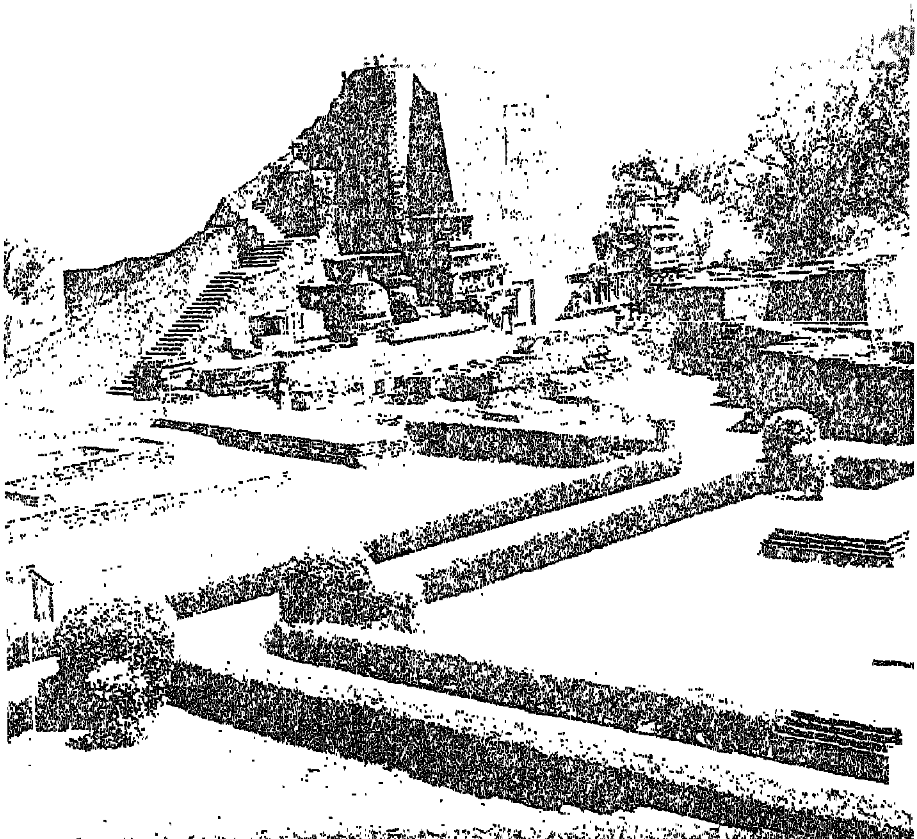
नालंदा मुख्य मंदिर का द्वार

करवाया। मध्य देश के एक राजा ने एक और संघाराम बनवाया। हर्ष ने भी वहाँ एक संघाराम बनवाया। उसकी दीवालों पर सजाई गई पीतल की पत्तियों की आभा सोने जैसी सुंदर थी। वहाँ से लगभग दो सौ कदम की दूरी पर बुद्ध की एक अस्सी फुट ऊँची प्रतिमा खड़ी थी जो ताँबे की बनी थी। उसे राजा पूर्णवर्मा ने बनवाया था।

नालंदा विश्वविद्यालय के चारों ओर ईंटों की एक दीवार बनी हुई थी। विश्वविद्यालय के वैभवशाली भवनों से प्रभावित होकर श्वेन त्साङ ने लिखा है कि उसके अंदर घुसने के लिए एक बड़ा द्वार था। वह द्वार एक संघाराम में खुलता था। उस संघाराम से आठ बड़े-बड़े सभागारों में जाने के लिए रास्ते बने हुए थे। इस सबके अतिरिक्त श्वेन त्साङ ने विश्वविद्यालय के अंदर शानदार सजे हुए गुंबद भी देखे थे। उन गुंबदों, भवनों पर बने कंगूरों और आस-पास के पर्वतों की नुकीली चोटियों का मिला-जुला दृश्य बहुत ही मनोहारी था। ऊपर बनी वेधशालाएँ सुबह के कोहरे में खो सी जाती थी। संघारामों की ऊपरी मंज़िलों के कमरे बादलों के ऊपर निकले से दिखाई देते थे। उन कमरों की खिड़कियों से हवाओं और बादलों की गति का पता लगाया जा सकता था। गगनचुंबी गुफाओं की छतों से सूरज और चाँद की गति और दिशा देखी जा सकती थी।

नालंदा विश्वविद्यालय के प्रांगण में गहरे और स्वच्छ जल से भरे सरोवर थे। उनमें नीले कमल खिले थे। उनके बीच-बीच में गहरे लाल रंग के कनक पुष्प लहलहाते रहते थे। इधर-उधर बिखरी हुई आम्रवाटिकाएँ उनके ऊपर अपनी छाया करती थीं।

भिक्षुओं के निवास स्थान चार मंजिला थे। उनमें गुफाएँ थी। गुफाओं के खंभों का रंग लाल मोतियों जैसा था। उन पर बहुत सुंदर चित्रकारी की गई थी। गुफाओं की छतों पर खपरैल बिछी हुई थी। उस पर अनेक प्रकार के रंग



नालंदा के अवशेष

प्रतिबिंबित होते थे। इन सब चीजों से विश्वविद्यालय का वातावरण और अधिक सुंदर हो जाता था। श्वेन त्साङ के विचार में नालंदा संघाराम भारत के संघारामों में सबसे अधिक ऊँचा और वैभवपूर्ण था।

इत्सिङ

श्वेन त्साङ के बाद कई और चीनी यात्री भारत आए। उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इत्सिङ था। उसका जन्म सन् 635 में चीन के चि ली प्रांत में स्थित फन याङ (आधुनिक चो चाऊ) में हुआ था। सात वर्ष की उम्र से ही उसकी शिक्षा आरंभ हो गई थी।

इत्सिङ के दो शिक्षक थे। वे अपने-अपने विषयों के विद्वान थे। उनके नाम थे—शन-यू और हुई शी। शन यू की अनेक विषयों में रुचि थी। उन्हें कन्फ्यूशस और बौद्ध, दोनों ही धर्मों के बारे में समान ज्ञान था। वे खगोलशास्त्र, भूगोल तथा गणित में निपुण थे। चीनी भाषा का उन्हें अगाध ज्ञान था। वे कहा करते थे कि इस भाषा में कोई भी ऐसा चरित्र (चित्रात्मक अक्षर) नहीं था जिसे वे न जानते हों। एक ही दिन में उन्होंने संपूर्ण **परिनिर्वाण-सूत्र** पढ़ लिया था। **प्रज्ञांपरमिता-सूत्र** के अठारहों अध्यायों का उन्होंने सौ बार पाठ किया था। जब वे पूरे **त्रिपिटक** को पढ़ने में व्यस्त थे तब भी समय निकालकर वे **प्रज्ञांपरमिता-सूत्र** अवश्य पढ़ लेते थे।

शन-यू का स्वभाव बहुत ही सरल और उदार था। अहंकार तो उनमें था ही

नहीं। वे बहुत ही योग्य और मेधावी पुरुष थे। करुणा के तो वे भंडार थे। एक बार एक व्यक्ति, जो अपने पैरों के घावों से पीड़ित था और कराह रहा था, उनकी शरण में आया। उन्होंने तुरंत अपने नए वस्त्र उतारकर उसके घावों को ढक दिया।

अपनी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व उन्होंने अपने हाथों से अपने सारे लेख नष्ट कर दिए थे। उन्होंने इत्सिङ को उसकी बारह वर्ष की आयु तक केवल धर्मेतर विषयों की ही शिक्षा दी थी। सन् 646 में शन्-यू का देहावसान हो गया। परंतु इत्सिङ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उसने उस समय से बौद्ध धर्म का अध्ययन करना आरंभ कर दिया था। इत्सिङ शन यू को अपने पितातुल्य मानता था।

इत्सिङ के दूसरे शिक्षक हुई शी की एकमात्र रुचि **विनयसूत्र** में थी। वे उसे प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक एक बार अवश्य पढ़ा करते थे। चौबीस घंटों में वे छः बार पूजा और ध्यान करते थे। वे अपने शिष्यों को सुबह से शाम तक पढ़ाते रहते थे।

वे सदैव प्रसन्न और शांत रहते थे। उनका तन और मन दोनों ही पूर्णरूप से स्वस्थ थे। थकावट तो जैसे उन्हें कभी होती ही नहीं थी। **सद्धर्मपुंडरीक** पुस्तक उन्हें बहुत प्रिय थी। सोलह वर्षों से भी अधिक समय तक वे उसका दिन में कम से कम एक बार पाठ अवश्य करते थे। इस तरह उस पुस्तक को उन्होंने बीस हज़ार बार पढ़ा था। जिस समय वे पाठ शुरू करते थे एक चिड़िया उनके भवन के एक कोने में आकर बैठ जाती थी और उनके पाठ के साथ-साथ चीं-चीं करती रहती थी। हुई शी इत्सिङ को बहुत प्यार करते थे। जब कभी उनके पास कोई अच्छा भोजन होता था तो वे इत्सिङ को उस भोजन का सबसे अच्छा भाग दे देते थे। इत्सिङ को वे कभी किसी चीज़ के लिए मना नहीं करते थे। इत्सिङ भी उन्हें अपनी माँ की तरह प्यार करता था। उन्होंने इत्सिङ को बीस वर्ष की उमर में पढ़ाना शुरू किया। उसे बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को अच्छी तरह समझने के लिए प्रेरित किया। इत्सिङ को हुई शी ने यह भी बताया कि चीन में बौद्ध

सिद्धांतों को गलत समझा जा रहा था। इन शिक्षाओं का उस पर प्रभाव पड़ा। इत्सिङ ने अपना शेष जीवन बौद्ध सिद्धांतों को समझने और अपने देश में उन्हें सही ढंग से प्रस्तुत करने में बिता दिया। इत्सिङ ने हुई शी के समक्ष अपनी भारत आने की इच्छा व्यक्त की थी। उन्होंने उसकी इस इच्छा का समर्थन किया। इतना ही नहीं, इसके लिए उसे प्रोत्साहित भी किया। वे चाहते थे कि इत्सिङ भारत आकर यहाँ के पवित्र स्थलों तक पहुँचे और यहाँ रहकर **बौद्ध विनय** का अध्ययन करे।

जब श्वेन त्साङ भारत की यात्रा के बाद चीन लौटा था उस समय इत्सिङ दस वर्ष का बालक था। परंतु उस समय तक उसने स्वयं को बौद्ध भिक्षु के जीवन के लिए तैयार कर लिया था। चौदह वर्ष की उम्र में उसने भिक्षु संघ में प्रवेश ले लिया था। श्वेन त्साङ के व्यक्तित्व से भी वह प्रभावित हुआ। उसने जमकर अध्ययन किया और भारत आने के अपने संकल्प को और अधिक सुदृढ़ बनाया। सन् 654 से सन् 658 तक वह विनय के अध्ययन में लगा रहा। उस समय विनय के बारे में चीन में जो भी प्राप्य था उस सबको इत्सिङ ने पढ़ा और दक्षता प्राप्त की। साथ ही उसने सूत्रों का भी अध्ययन किया। हुई शी के कहने पर वह असंग के दो **अभिधम्मपिटकों** का अध्ययन करने के लिए पूर्वी वी (आधुनिक होनन प्रांत में चंग-ते-फू) गया। वहाँ से वह पश्चिमी राजधानी शैंन सी प्रांत के चंगन नगर में चला गया। चीन में उस समय सीएन-हैन् युग का पहला ही वर्ष था। चंगन में रहकर इत्सिङ ने वसुबंधु के **अभिधर्म कोष** और धर्मपाल के **विद्यामात्र सिद्धि** का अध्ययन किया। चंगन में वह 670 ई. तक रहा। इस तरह अपने यौवन का अधिकांश समय उसने धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन में लगाया। इत्सिङ, फा हियान और श्वेन त्साङ, दोनों का प्रशंसक था। उनकी तरह वह भी भारत में आकर यहाँ उपलब्ध संस्कृत भाषा में लिखे बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन-मनन

करना चाहता था। वह यह भी समझ गया था कि भारत आना विशिष्टता और सम्मान का प्रतीक था क्योंकि चंगन में उसने देखा था कि श्वेन त्साङ की शवयात्रा बड़ी धूम-धाम से निकाली गयी थी। राजा ने स्वयं उसका आयोजन किया था।

भारत आने का संकल्प इत्सिङ ने अठारह वर्ष की उम्र में सन् 652 में ही कर लिया था। परंतु वास्तव में यात्रा पर वह सन् 671 में ही निकल सका। उस समय उसकी उम्र 37 वर्ष थी। चीन से प्रस्थान करने से पहले वह अपने गुरु शन-यू की समाधि पर गया था। उसने वहाँ पूजा की, आशीर्वाद माँगा और मन ही मन उनकी आत्मा को स्मरण करके भारत यात्रा की स्वीकृति माँगी।

सन् 671 में इत्सिङ ने कैंटन से फारस जाने वाले एक जहाज़ में बैठकर भारत की ओर प्रस्थान किया। वह जहाज श्रीविजय होकर जाने वाला था। श्रीविजय उन दिनों बौद्ध धर्म के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। प्रस्थान से पहले चीन के शाही प्रतिनिधि फैंग सिआओ चुआन ने इत्सिङ का बहुत आदर किया और अनेक अच्छी-अच्छी चीज़ें यात्रा के लिए दीं। उनमें खाने की बढ़िया-बढ़िया चीज़ें थीं। फैंग की स्नेहपूर्ण सहायता की इत्सिङ ने बड़ी प्रशंसा की है। उत्तर चीन के विद्वानों ने भी इत्सिङ को भावभीनी विदाई दी थी।

कैंटन से चलते समय इत्सिङ के साथ शान-हिङ नामक एक विद्यार्थी भी था। रास्ते में वह अचानक बीमार पड़ गया। अतः इत्सिङ ने सुमात्रा से उसे चीन वापस भेज दिया। रास्ते में इत्सिङ के मन में अनेक तरह के विचार आते थे। कभी तो उसे बनारस के मृगदाव का ध्यान आ जाता था तो कभी गया के कुक्कुटपादगिरि का। इस तरह बीस दिन की यात्रा के बाद इत्सिङ श्रीविजय पहुँचा। वहाँ वह छः महीनों तक रहा। उसने उस बीच संस्कृत व्याकरण सीखा। श्रीविजय में उसका एक राजकुमार से परिचय हो गया। उस राजकुमार के कई जहाज़ थे। वे भारत के पूर्वी तट तक आते-जाते रहते थे। एक दिन इत्सिङ उनमें

से एक जहाज़ पर सवार होकर ताम्रलिप्ति की ओर चल पड़ा। मार्ग में वह श्री भोग या मलय में रुका। वहाँ उसने दो महीने बिताए।

श्री भोग से वह निकोबार द्वीप गया। उसने देखा कि वहाँ के निवासी कोई भी कपड़ा नहीं पहनते थे। उनकी स्त्रियाँ पत्तों से अपने शरीर को ढका करती थीं। इत्सिङ के साथी यात्रियों ने कुछ वस्त्र उन्हें देने भी चाहे। परंतु वे उन्हें लेने को तैयार ही नहीं हुए। निकोबार के निवासी अपनी छोटी-छोटी नौकाओं में बैठकर इत्सिङ के जहाज़ तक आए। वे अपने साथ नारियल, केले तथा बाँस की बनी कुछ वस्तुएँ ले गए थे। उनके बदले में लोहा खरीदना चाहते थे क्योंकि उस समय वहाँ लोहा तो निकलता ही नहीं था। थोड़ा-सा सोना-चाँदी मिलती थी। वे बाँस की अत्यंत सुंदर गोल डलियाँ बनाते थे। यदि यात्री उनसे वस्तु-विनिमय न करें तो वे ऐसे ज़हरीले बाण छोड़ते थे जो बहुत ही घातक थे। निकोबार के लोगों का रंग काला नहीं था। उनकी ऊँचाई मध्यम आकार की थी।

निकोबार से पंद्रह दिन की यात्रा के बाद इत्सिङ 673 ई. में ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ उस समय छः बौद्ध विहार थे। लोग समृद्ध थे। वहाँ इत्सिङ की एक चीनी बौद्ध भिक्षु ता-चैंङ-तेंङ से भेंट हुई। वह श्वेन त्साङ का शिष्य था। तेंङ पहले ही सियाम, लंका तथा दक्षिण भारत के प्रदेशों की यात्रा कर चुका था। उसे संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। इत्सिङ उसके साथ चार महीनों तक रहा। उसने तेंङ की सहायता से संस्कृत भाषा का अध्ययन किया।

उसके बाद उन दोनों ने बुद्ध के जीवन से संबंधित स्थलों की ओर प्रस्थान किया। कई सौ व्यापारी भी वहाँ से उनके साथ गए। रास्ते में महाबोधि विहार से दस दिन की यात्रा के बाद इत्सिङ बीमार पड़ गया। उसे बड़ी थकावट हो गई। आस-पास का इलाका खतरनाक था। अतः इत्सिङ व्यापारियों से अलग नहीं होना चाहता था। वह सोचता था कि उनके साथ रहने में ही उसकी सुरक्षा थी।

इस कारण यद्यपि उसका शरीर उसका साथ नहीं दे रहा था फिर भी वह अपने क़दम तेजी से आगे बढ़ाने की कोशिश कर रहा था। उसे बार-बार रुकना पड़ रहा था। आखिर वह उनके बराबर नहीं चल सका। पिछड़ गया। आगे की यात्रा उसे अकेले ही करनी पड़ी।

रास्ते में एक दिन डाकुओं ने इत्सिङ को घेर लिया। वे धनुष-बाण लिए थे। उन्होंने इत्सिङ को खूब डराया और अंत में उसके सारे कपड़े उतरवा लिए। उसका सारा सामान छीन लिया। सामान बाँधने की उसकी रस्सियाँ भी ले गए। इत्सिङ के मन में अनेक प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचता शायद अब वह बौद्ध स्थलों को नहीं देख पाएगा। किसी से उसने सुना था कि उस क्षेत्र के लोग गोरे आदमी का वध कर देते हैं और उसकी बलि देवताओं को दे देते हैं। इस विचार से तो वह डर के मारे काँप उठा। लेकिन थोड़ी ही देर में उसने फिर हिम्मत की। वह निकट के एक कीचड़ के गड्ढे में घुस गया। लोक लाज से बचने के लिए उसने सारे बदन पर कीचड़ लगा ली और पत्तों से ढ़क लिया। उसके बाद एक बार फिर वह आगे चल पड़ा। आधी रात बीतते-बीतते वह अपने साथियों के पास पहुँच गया। वहीं उसे तेंङ भी मिल गया। तेंङ उसे देखकर भौंचक्का हो गया। उसने इत्सिङ को अपने कुछ वस्त्र दिए। स्वच्छ जल से उसने स्नान किया और वस्त्र धारण कर लिए।

कुछ दिन चलने के बाद इत्सिङ नालंदा पहुँच गया। वहाँ उसने मूलगंधकुटी में पूजा की। नालंदा से वह राजगृह गया जहाँ उसने गृध्रकूट पर्वत पर बुद्ध की पूजा की। उसके बाद वह गया पहुँचा। वहाँ उसने बोधि-वृक्ष की उपासना की। महाबोधि विहार में जाकर उसने बुद्ध की आराधना की। अपने मित्रों और अपनी ओर से बुद्ध की मूर्ति पर इत्सिङ ने एक काषाय (गेरुआ वस्त्र) चढ़ाया। चीन से चलने से पहले उसके मित्रों ने उसे कुछ वस्तुएँ दी थी। उन्हें भी उसने उस

मूर्ति पर चढ़ाया। उनकी ओर से उसने प्रार्थना की। उसके बाद वह उस मूर्ति के सामने ध्यानमग्न होकर पृथ्वी पर लेट गया। लेटे-लेटे उसने भगवान बुद्ध से प्रार्थना की कि वे उसे दर्शन देने की कृपा करें और उसके देशवासियों को सुखी बनाएँ।

गया से इत्सिङ वैशाली गया। वैशाली में वह विमल कीर्ति के घर गया। विमल कीर्ति बुद्ध के समकालीन थे। वैशाली से वह कुशीनगर गया। कुशीनगर में उसके साथ एक दुखद घटना घटी। वहाँ के परिनिर्वाण विहार में चीन से आए उसके साथी ता-चैंङ-तेंङ की मृत्यु हो गई। इत्सिङ को बड़ा दुख हुआ। उसकी आत्म-शांति के लिए उसने भगवान बुद्ध से प्रार्थना की। कुशीनगर से वह बनारस और गया के निकट कुक्कुटपादगिरि भी गया।

कुक्कुटपादगिरि से इत्सिङ एक बाद फिर नालंदा वापस चला गया। वहाँ दस वर्ष रहकर उसने सद्धर्म का अध्ययन किया। उसकी मुख्य रुचि **विनय ग्रंथों** में थी। परंतु उसने संस्कृत में उपलब्ध औषधि ग्रंथों का भी अध्ययन किया। उसने चार सौ संस्कृत ग्रंथों का संकलन किया जिनमें लगभग पांच लाख श्लोक थे। चीनी भाषा में उल्था करने पर उनके एक हजार ग्रंथ बन सकते थे।

इतना सब करने के बाद इत्सिङ नालंदा छोड़कर ताम्रलिप्ति के लिए वापस चला गया। रास्ते में पुनः डाकुओं ने उसे घेर लिया। इस बार वह उनसे बचकर निकल गया।

सन् 685 में इत्सिङ ने ताम्रलिप्ति से जलमार्ग द्वारा चीन के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में वह श्रीविजय अर्थात मलाया में रुका। वहाँ एक हज़ार से भी अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे। वे ज्ञानार्जन और सत्कर्मों में व्यस्त रहते थे। श्रीविजय के निकट दक्षिण समुद्र के आस-पास के देशों के राजा और शासक बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। वे भलाई करके पुण्य कमाना चाहते थे। उन देशों के लोगों के रीति-रिवाज़ भारत के मध्य देश के रीति-रिवाज़ों से मिलते थे।

इत्सिङ श्रीविजय में कुछ साल रहकर संस्कृत का अध्ययन करता रहा। वह अभी और समय तक वहाँ रहना चाहता था। एक दिन वह एक व्यापारी जहाज पर अपना पत्र छोड़ने के लिए गया। अचानक हवा का रुख अनुकूल हो गया। संचालक ने जहाज़ चला दिया। इत्सिङ उसमें फँस गया। जहाज ने उसे चीन पहुँचा दिया। इस घटना से वह बहुत दुखी हुआ। उसकी पांडुलिपियों का समस्त संकलन श्रीविजय में ही छूट गया। उस समय उसकी अवस्था पचास वर्ष से अधिक हो गई थी। वह चिंतित था। उसे डर था कि वह फिर से यात्रा की थकान सह भी सकेगा। उसके सौभाग्य से उसे एक विद्वान साथी मिल गया। उसका नाम था चैंङ-कू। वह उस समय **विनय** का अध्ययन कर रहा था। यद्यपि इत्सिङ और चैंङ-कू पहले कभी नहीं मिले थे। इस मिलाप के बाद वे एक दूसरे के काफी निकट आ गए। सन् 689 में वे दोनों श्रीविजय के लिए चल पड़े। क्वांङ-तुङ के भिक्षुओं और अन्य लोगों ने उनकी यात्रा के लिए शुभकामनाएँ तथा आवश्यक सामग्री दी।

इत्सिङ और चैंङ-कू सकुशल श्रीविजय पहुँच गए। वहाँ से इत्सिङ ने तात्सिन के साथ अपने कुछ अनुवाद और संस्मरण सन् 692 में चीन भिजवा दिए। सन् 695 में वह स्वयं स्वदेश वापस लौटा। उस समय चीन में चैंङ-शैंङ युग का पहला वर्ष था।

बौद्ध धर्म के उन सभी ग्रंथों को, जिन्हें उसने नालंदा में इकट्ठा किया था, वह अपने साथ चीन ले गया। बुद्ध के वज्रासन की एक अनुलिपि भी वह साथ ले गया था। इत्सिङ ने अपना शेष जीवन इन ग्रंथों के अनुवाद और मीमांसा में लगाया। नौ भारतीय विद्वानों ने इस काम में उसकी सहायता की। इत्सिङ ने छप्पन ग्रंथों के अनुवाद पूरे किए। वे अनुवाद दौ सौ तीस खंडों में हैं। उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र और शास्त्र सम्मिलित हैं जैसे, मूल सर्वास्तिवाद वर्ग के

विनय पिटकों के समस्त ग्रंथ आदि। इत्सिङ ने बौद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए चीन में एक नया स्कूल आरंभ किया। चीन के सम्राट चुंङ-सुंङ ने इत्सिङ के कार्यों की बड़ी प्रशंसा की।

इत्सिङ 25 वर्ष तक अर्थात् सन् 671 से 695 तक अपने देश से बाहर रहा। इस बीच उसने तीस से अधिक देशों की यात्रा की। सन् 695 में वह चीन वापस लौटा। श्वेन त्साङ की भाँति उसका भी वहाँ के राजा और नागरिकों ने भव्य स्वागत किया। सन् 713 में उन्नासी साल की उम्र में उसकी मृत्यु हो गई।

जिस समय इत्सिङ भारत आया था उस समय भारत जंबूद्वीप या ब्रह्मराष्ट्र के नाम से जाना जाता था। भारत का यह नाम प्राचीन काल से चला आ रहा था। यहाँ के निवासी उसे आर्य देश अथवा मध्य देश के नाम से भी पुकारते थे। इत्सिङ ने भारत को 'भारत' न लिखकर 'पश्चिम' लिखा है। चीनी लोग भारत को 'इंदु' कहते थे। तुर्क और मंगोल इसे 'हिंदु' नाम से संबोधित करते थे।

इत्सिङ ने लिखा है कि उन दिनों भारत के लोग कोरिया को 'कुक्कटेश्वर' कहते थे क्योंकि वहाँ के लोग कुक्कटों (मुर्गों) को पूज्य मानते थे। इत्सिङ का कहना है कि कोरिया के अनेक भिक्षुओं ने भी भारत की यात्रा की थी। उनमें से कुछ मध्य एशिया के थल मार्ग से और शेष समुद्री मार्ग से यहाँ आए थे। वे स्वदेश नहीं लौटे यहीं रहकर मर गए।

इत्सिङ ने चीन से भारत आनेवाले यात्रियों को सलाह दी थी कि भारत पहुँचने से पहले वे श्रीविजय में रुकें और वहाँ रहकर अपनी संस्कृत की शिक्षा पूरी कर लें। ऐसा करने से उनका समय बचेगा और वे भारत पहुँचकर वांछित ग्रंथों का सरलतापूर्वक अध्ययन कर सकेंगे।

इत्सिङ के वर्णन से पता लगता है कि उस समय हिंद-चीन और हिंदेशिया में भारतीय संस्कृति विकसित अवस्था में थी। भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक ग्रंथ,

कलाकृतियाँ और नई-नई विचारधाराएँ सिंघल, जावा, कंबोडिया, चंपा और चीन के अनेक प्रदेशों जैसे कैंटन में अबाध गति से पहुँचती रहती थीं। परिणाम यह हुआ कि जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में घरों को गोबर से पोतने, पानी को छानकर पीने, पैर धोने, भोजन परोसने और करने के ढंग भारत जैसे ही हो गए थे।

भारत में रहकर इत्सिङ ने बौद्ध विहारों में प्रचलित विनय नियमों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। आहार-विहार, व्यायाम, सफाई, वस्त्र, गुरु-शिष्य व्यवहार, अभिवादन, स्नान, शिक्षा-दीक्षा, पूजा-पाठ, मंत्रोच्चारण, शयन, विश्राम, अतिथि-सत्कार, रोग-निदान-उपचार, केश-प्रसाधन, अंत्येष्टि आदि क्रियाओं को निकट से देखा। अपने यात्रा-संस्मरणों में उनके बारे में विस्तार से लिखा। उन विनय नियमों और क्रियाओं की इत्सिङ ने चीन में अपनाए गए नियमों और क्रियाओं से कहीं-कहीं तुलना भी की है। इत्सिङ ने यह सब इसलिए किया कि उसके देशवासी विनय नियमों और क्रियाओं को सही ढंग से समझ सकें और उनका ठीक से पालन कर सकें।

इत्सिङ ने भारतवासियों के भोजन की प्रशंसा की है। उसके लेखानुसार उत्तर भारत में गेहूँ के आटे का अधिक प्रयोग होता था। मगध में गेहूँ की कमी थी। लेकिन चावल बहुलता से मिलता था। दक्षिण और पूर्वी भारत में भी चावल का ही अधिक प्रयोग होता था। दूध, मक्खन, घी और तेल सभी जगह मिलता था। फलों की तो भरमार थी; उनकी गणना संभव नहीं थी। मीठे खरबूजे, गन्ने और शकरकंद बहुतायत से मिलते थे। लोग प्याज और कच्ची सब्जियाँ नहीं खाते थे। सरसों अच्छी मात्रा में उगती थी। सरसों का साग खाया जाता था और उसका तेल सभी देशों में प्रयोग होता था। इत्सिङ के समय चीन में भी सरसों उगाई जाती थी। लेकिन वहाँ की सरसों भारत की सरसों से भिन्न प्रकार की थी।

इत्सिङ ने लिखा है कि भारतवासी शारीरिक सफाई पर बहुत ध्यान देते थे। वे दिन में कई बार हाथ-पैर धोते थे और स्नान करते थे। बिना हाथ-मुँह धोए वे

भोजन नहीं करते थे। लोगों ने जगह-जगह सरोवर बनाए थे। सरोवर-निर्माण पुण्य कार्य समझा जाता था। उनके आकार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे— कुछ बड़े तो कुछ छोटे। सरोवरों के चारों ओर बड़े-बड़े साल वृक्ष लगाए जाते थे। कुछ वृक्ष तो चालीस से पचास फुट तक लंबे होते थे। सरोवरों में बरसाती पानी इकट्ठा किया जाता था। वह काफी साफ होता था। इत्सिङ ने नालंदा के निकट के सरोवरों का उल्लेख किया है। नालंदा विहार के पास दस बड़े-बड़े सरोवर थे। प्रतिदिन प्रातः एक घंटी बजाई जाती थी। उससे भिक्षुओं को स्नान के समय का स्मरण कराया जाता था। घंटी बजते ही कभी सौ तो कभी एक हज़ार भिक्षु एक साथ उन सरोवरों की ओर चल पड़ते थे और वहाँ पहुँचकर उनमें स्नान करते थे। विहार के अंदर भी स्नानागार होते थे। कुछ भिक्षु वहीं स्नान कर लेते थे।

स्नान करते समय लोग अँगोछा पहनकर अपने गुप्त अंगों को ढक लेते थे। नंगे नहाना लोक-मर्यादा के विपरीत था। स्नान के बाद ही लोग भोजन करते थे। इससे भोजन भली-भाँति पच जाता था। चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार भोजन के बाद स्नान का निषेध था। लेकिन चीन में इसका उल्टा था। एक चीनी कहावत में कहा गया है कि भूख लगने पर बाल धोओ और भोजन के बाद स्नान करो।

जो लोग शारीरिक सफाई की उपेक्षा करते थे उनसे लोग घृणा करते थे। इत्सिङ के वर्णन के अनुसार एक बार जब उत्तर मंगोलिया के लोग भारत आए तो यहाँ के लोगों ने उन्हें पसंद नहीं किया; उनका उपहास किया। इसका कारण यह था कि वे शौच के बाद स्नान नहीं करते थे। अपने भोजन को वे एक ही तश्तरी में रखते थे। भोजन के लिए वे एक साथ बैठते थे। खाते समय अपने-अपने पैर फैलाए रहते थे। जो एक दूसरे से टकराते थे। यह अच्छा नहीं लगता था। वे सुअरों और कुत्तों के पास ही बैठ जाते थे। अपने दाँत साफ करने के लिए वे दातुन का भी प्रयोग नहीं करते थे।

इत्सिङ का विचार था कि उच्च संस्कृति, साहित्यिक लालित्य, औचित्य बोध,

संयम, अभिवादनशीलता, भोजन की स्वादिष्टता, हितैषिता, और सदाचार केवल चीन में ही था और अन्य देशों की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि की थी। परंतु उसने यह भी स्वीकार किया है कि चीनी लोग भारतीयों की तरह भोजन को सफाई से नहीं रखते, पेशाब के बाद हाथ नहीं धोते और दातुन चबाकर दाँत साफ नहीं करते।

भारत, सिंघल और सुदूर पूर्व के द्वीपों के लोगों के वस्त्रों का वर्णन करते हुए इत्सिङ लिखता है कि यहाँ के लोग आठ फुट लंबे और काफी चौड़े दो कपड़े पहनते थे। उन कपड़ों पर कोई सिलाई नहीं होती थी। कश्मीर, तिब्बत और तुर्क देशों के लोग ठंडक की अधिकता के कारण ऊन और चमड़े के वस्त्रों का प्रयोग करते थे; वे लोग सूती कपड़े बहुत कम पहनते थे। फारस और अरब के लोग कमीज़ और पाजामा पहनते थे।

इत्सिङ ने देखा था कि यदि चीनी भिक्षु भारत में आकर चीनी वेष-भूषा में रहने का प्रयत्न करते थे तो यहाँ के लोग उनका उपहास करते थे। लज्जावश चीनी भिक्षु अपने वस्त्र छोड़ देते थे और भारतीय वस्त्र पहनने लगते थे।

इत्सिङ लिखता है कि भारत के लोगों में जूते पहनने की प्रथा नहीं थी। अधिकांश लोग नंगे पैर ही रहते थे। लोग धूप और वर्षा से बचने के लिए छातों का प्रयोग करते थे। छाते बाँस के बने होते थे। उनके ऊपर लाख की पालिश होती थी। छातों में एक मूठ होती थी। उन छातों को बंद करना संभव नहीं था।

भारत में रहकर बौद्ध साहित्य के साथ-साथ इत्सिङ ने चिकित्सा-विज्ञान का भी सफल अध्ययन किया था। उस समय चिकित्सा-विज्ञान भारत की पाँच प्रमुख विद्याओं में से एक विद्या थी। चिकित्सा-विज्ञान के आठ विभाग थे। वे विभाग थे– (i) घाव की चिकित्सा, (2) गर्दन से ऊपर के अंगों के किसी भी रोग की चिकित्सा, (3) शरीर के रोगों की चिकित्सा, (4) पैशाचिक रोगों की चिकित्सा,

(5) विषजनित रोगों की चिकित्सा, (6) बाल-रोगों की चिकित्सा (7) आयु बढ़ाने के उपाय और (8) पैर और शरीर को सबल बनाने के उपाय। इत्सिङ का कहना है कि एक समय था जब भारत में इन चिकित्साओं से संबंधित आठ ग्रंथ उपलब्ध थे। लेकिन उसके भारत आने से कुछ पहले एक विद्वान ने उन्हें एक ही ग्रंथ में संकलित कर दिया था। भारत के सभी चिकित्सक इसी ग्रंथ के अनुसार रोगों की चिकित्सा करते थे। क्योंकि चिकित्सक दूसरों के दुखों का निवारण करते थे इसलिए भारतीय उनका बहुत आदर करते थे।

इत्सिङ ने भारतीय और चीनी चिकित्साविधियों का बड़ी सावधानी और तुलनात्मक दृष्टि से वर्णन किया है। उसने लिखा है कि चीन में उस समय चार सौ से भी अधिक प्रकार की औषधियों के लिए उपयोगी जड़ी-बूटियाँ, छालें और पत्थर उपलब्ध थे। उनके रंग, स्वाद और सुगंध अद्भुत थी। इत्सिङ का दावा था कि चिकित्सा के कुछ क्षेत्रों में जैसे, एक्यूपंक्चर, नाड़ी परीक्षा आदि में भारत के किसी भी राज्य में चीन जैसी दक्षता नहीं थी। आयुवर्धक औषधियाँ केवल चीन में ही पाई जाती थीं। लेकिन इत्सिङ ने स्वीकार किया है कि शरीर की देख-रेख, सुरक्षा तथा रोगों के निदान की चीन में बड़ी उपेक्षा थी। वह यहाँ की चिकित्सा विधि से प्रभावित हुआ था। उसने अपने देशवासियों को सलाह दी कि वे उस विधि का लाभ उठाएँ।

इत्सिङ ने अपने देशवासियों के हित की दृष्टि से कुछ बातों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। कड़ुए जेन शेन (औषधियों में काम आने वाले एक पौधे) के काढ़े से ज्वर ठीक हो जाता है। घी, तेल, शहद अथवा आसव से मनुष्य को ठंडक से आराम मिलता है। भारत के लोग रात में सिर में तेल मलते थे और प्रातः पैरों में। इससे उनकी दृष्टि ठीक रहती थी और ठंडक से बचाव होता था।

इत्सिङ ने भारत में प्रचलित लंगन (भोजन न करने की) विधि पर काफी बल दिया है। इस विधि को गरीब-अमीर सभी अपना सकते हैं। पश्चिम भारत के

लाट राज्य में रोगी कभी आधे महीने और कभी पूरे एक माह तक लंगन रखते थे। कुछ रोगी तो तब तक भोजन नहीं करते थे जब तक वे पूरी तरह रोग-मुक्त न हो जाएँ। मध्य भारत में रोगी एक सप्ताह से अधिक लगन नहीं रखते थे। दक्षिण समुद्र के द्वीपों में लंगन की अधिकतम सीमा दो या तीन दिन होती थी। इत्सिङ एक ऐसे व्यक्ति से स्वयं मिला था जो तीस दिन तक लगन रखने से रोग-मुक्त हो गया था। लंगन से कई तरह के रोग ठीक किए जा सकते थे जैसे, फोड़ा, बुखार, हाथ-पैरों में तेज़ दर्द, शरीर में लगी किसी भी प्रकार की चोट आदि।

इत्सिङ का कहना था कि उपचार से पहले रोग का निदान अवश्य कर लेना चाहिए। शरीर के अधिकांश रोग अधिक खाने, अधिक परिश्रम या भोजन पचने से पहले ही पुनः भोजन करने से उत्पन्न होते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से इत्सिङ ने चीन में प्रचलित कच्ची मछली और कच्ची सब्जियाँ खाने की रीति की आलोचना की और बताया कि भारत में इस तरह की रीति नहीं थी। उसने अपने देशवासियों को सलाह दी कि वे भारतीयों की तरह सब्जियों को अच्छी तरह पकाएँ, उनमें घी, तेल, हींग और मसाले मिलाएँ और तब उनका सेवन करें। उसने चाय को रोग निवारक बताया है। वह स्वयं बीस साल से भी अधिक समय तक केवल चाय और जेन शेन के काढ़े के सेवन से रोगों से मुक्त रहा।

इत्सिङ के समय नालंदा विहार में तीस हज़ार से अधिक भिक्षु रहते थे। उनके भरण-पोषण के लिए नालंदा विहार के पास दो सौ के लगभग गाँव थे। अनेक राजाओं ने ये गाँव नालंदा को दान में दिए थे।

श्वेन त्साङ की भाँति इत्सिङ भी भारतीय विद्वानों की ओर आकर्षित हुआ था। उसने भी उनकी चर्चा की है। उसने लिखा है कि जंबूद्वीप में नागार्जुन, देव और अश्वघोष बौद्ध दर्शन के सबसे अधिक प्रसिद्ध विद्वान थे। इत्सिङ ने वसुबंधु, असंग, संगभद्र, भवविवेक, सिंहचंद्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ आदि

विद्वानों की भी चर्चा की है। वे धार्मिक और धर्मेतर दोनों ही विषयों के महापंडित थे। लालच से मुक्त, उनके जीवन में परम संतोष और अपने लक्ष्य के प्रति अपूर्व लगन थी। उनमें आशुलेखन की प्रतिभा थी। उनकी स्मरणशक्ति अद्भुत थी। वे ग्रंथों को एक बार सुनकर ही स्मरण कर लेते थे। धर्मपाल ने अपने विरोधी के छः सौ श्लोकों को एक बार सुनकर ही कंठस्थ कर लिया था। ऐसे-ऐसे ब्राह्मण विद्वान थे जिन्हें एक-एक लाख श्लोक कंठस्थ थे। अनेक भारतीय विद्वानों को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी। इत्सिङ के समय ज्ञानचंद्र, रत्नसिंह, दिवाकरमित्र, तथागतगर्भ और साक्यकीर्ति सुविख्यात शिक्षकों में से थे।

इत्सिङ ने अपनी भारत-यात्रा दोनों ओर से समुद्री मार्ग से की थी। बौद्ध भिक्षु होने के कारण वह भारत में बौद्ध विनय और बौद्ध शास्त्रों की खोज में आया था। तथापि उसके वर्णनों में मानवतावाद की झलक मिलती है। भारतीय जीवन में जो कुछ अच्छा और उपयोगी था उसे ग्रहण करने की उसने कोशिश की और अपने देशवासियों को उसे अपनाने की सलाह दी। इत्सिङ के बाद भी कई चीनी यात्री भारत आए। इससे चीन की भारत में रुचि बनी रही।

उपसंहार

फा हियान, श्वेन त्साङ और इत्सिङ तीनों ही चीनी यात्री बौद्ध भिक्षु थे। बुद्ध में उनकी श्रद्धा अटूट थी। वे उनके परम उपासक थे। बुद्ध ही उनके लिए भगवान थे। उन्हें पूरा भरोसा था कि वे ही उनका मार्ग प्रशस्त करेंगे। तीनों ही यात्री भारत में बौद्ध स्थलों को देखने और बौद्ध विनय एवं अन्य बौद्ध ग्रंथों की खोज में आए थे। वे अलग-अलग मार्गों से आए। फा हियान मध्य एशिया के भू-मार्ग से आकर समुद्री मार्ग से वापस गया। श्वेन त्साङ ने अपनी पूरी यात्रा भू-मार्ग से ही की। इत्सिङ समुद्री मार्ग से भारत आया और उसी से वापस गया। तीनों यात्रियों ने अपने लक्ष्य-साधन के लिए अनगिनत कठिनाइयों का सामना किया और कष्ट झेले। उन्हें सहने के लिए वे निरंतर भगवान बुद्ध से शक्ति की प्रार्थना करते रहे। उन्हीं के सहारे उन्होंने चीन और भारत के बीच एक लंबी यात्रा सफलतापूर्वक पूरी की। भारत से लौटते समय वे सैकड़ों बौद्ध ग्रंथ अपने साथ ले गए। तीनों ने अपने-अपने जीवन के अंतिम वर्ष उन ग्रंथों के चीनी अनुवाद करने में लगा दिए। फलतः बौद्ध धर्म चीन में और अधिक पनपा। फा हियान, श्वेन त्साङ और इत्सिङ की साहित्यिक सेवा से भारत और चीन के बीच सांस्कृतिक

मित्रता के संबंध सुदृढ़ बने। तब से दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का सिलसिला आज तक अनवरत रूप से चलता चला आ रहा है।

ईसा के बाद चौथी और सातवीं शताब्दी के बीच भारत आए उक्त तीन चीनी यात्रियों ने अपनी यात्रा के वृत्तांत लिखे हैं। उन वृत्तांतों के अध्ययन से उस समय के भारत का एक सुंदर चित्र हमारी आँखों के सामने उभरकर आता है। भारत राजनैतिक रूप से एक नहीं था। यहाँ अनेक स्वतंत्र राज्य थे। परंतु समस्त भारत में सांस्कृतिक एकता थी। यहाँ की संस्कृति समृद्ध अवस्था में थी। भारत के राज्य धन-धान्य से भरपूर थे। समाज में स्त्रियों का सम्मान था। कहीं-कहीं अंतर्जातीय विवाह होते थे। सभी जगह लोग मन और धन से अतिथियों की सेवा करते थे। छुआ-छूत की प्रथा थी। यह एक सामाजिक कलंक था।

राजा अपनी प्रजा का ध्यान रखता था। राजदंड में क्रूरता नहीं थी। अपराध कम थे। लोगों की आध्यात्मिक साधना में रुचि थी। उनमें गहरी धार्मिक निष्ठा एवं विश्वास था। कई तरह के धर्म थे। लोगों को स्वतंत्रता थी कि वे किसी भी धर्म का अनुसरण करें। समाज में धार्मिक सहिष्णुता और सह-अस्तित्व था। हिंदू और बौद्ध मूर्तियों की साथ-साथ उपासना होती थी। कला, चित्रकला और स्थापत्य कला में भारतीय कलाकारों ने उल्लेखनीय प्रगति की थी। वे बहुमंज़िला भवनों का निर्माण भी करते थे। फा हियान के समय में बौद्ध धर्म काफी विकसित अवस्था में था। जगह-जगह बौद्ध विहार थे। हज़ारों की संख्या में बौद्ध भिक्षु उनमें निवास करते थे। उन विहारों के निकटवर्ती गाँवों के निवासी उनका भरण-पोषण करते थे। श्वेन त्साङ के समय तक बौद्ध धर्म पतनोन्मुखी हो गया था। अनेक स्थानों पर चीनी यात्रियों ने दैवी चमत्कारों की चर्चा की है। वे चमत्कार कहाँ तक सच थे, कहना कठिन है।

शिक्षा और विद्वता का समाज में विशेष स्थान था। शिक्षा के बड़े-बड़े केंद्र थे। नालंदा इस प्रकार का एक विश्वविख्यात शिक्षा-केंद्र था। वहाँ शीलभद्र जैसे

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान रहते थे। वे अनेक विषयों का पठन-पाठन करते थे। देश-विदेशों के हजारों विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए वहाँ आते थे।

विद्वानों का बहुत आदर होता था चाहे वे किसी भी प्रदेश अथवा जाति के हों। उनका सानिध्य पाने के लिए विभिन्न राज्यों के राजा तक लालायित रहते थे। वे उन्हें अपने यहाँ बुलाने के लिए एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते थे। विद्वानों को सम्मान देने में राजाओं को भी आनंद मिलता था; वे गौरवान्वित अनुभव करते थे। विद्या की साधना के लिए कुछ लोग अपना व्यक्तिगत सुख, धन-संपत्ति तक त्याग देते थे।

भारतीय संस्कृति का भारत की सीमाओं के बाहर भी आदर होता था। मध्य एशिया के देशों तथा एशिया के सुदूरपूर्व देशों में भारतीय संस्कृति विकसित अवस्था में थी। उन देशों में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन होता था। भारतीय रीति-रिवाज वहाँ प्रचलित थे। भारत का अनेक बाहरी देशों से भू-मार्ग और जल-मार्ग से व्यापार भी होता था। विदेशी भारत को आदर की दृष्टि से देखते थे। भारत यात्रा उनके लिए सामाजिक विशिष्टता और सम्मान की प्रतीक थी।